जीवन-दर्शन

भाग २

(मानव-जीवन की समस्याओं पर एक सन्त के मौलिक,
सूक्ष्म एवं अनुभव-सिद्ध विचार)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन

जीवन-दर्शन

भाग २

(मानव-जीवन की समस्याओं पर एक संत के मौलिक,
सूक्ष्म एवं अनुभव-सिद्ध विचार)

प्रकाशक :

मानव-सेवा-संघ, वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक :

मानव सेवा संघ,

वृन्दावन, मथुरा (उ० प्र०)

❖

सर्वाधिकार सुरक्षित

❖

प्रथम बार ४,००० प्रतियाँ

❖

अक्टूबर सन् १९९०

❖

मूल्य- ६ ।- ००

❖

मुद्रक :

राष्ट्रीय प्रैस,

डैम्पियर नगर, मथुरा।

फोन ६८१२

प्राक्कथन

प्रस्तुत पुस्तक जीवन की मूल समस्याओं पर गहराई से विचार करने वाले उन्हीं सन्त के प्रवचनों का संग्रह है, जिनके अनेक प्रसाद मानव-सेवा-संघ के साहित्य द्वारा जनता की सेवा में उपस्थित किए जा चुके हैं और जिन्हें धर्मतत्त्व एवं मानव-जीवन पर व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने वाले विद्वानों तथा विचारशीलों ने हृदय से लगाया है। 'सन्त-समागम', 'मानव की माँग', अनेक लेखों और प्रवचनों से परिचित बन्धु उपर्युक्त सन्त की भाषा को देखते ही पहचान जाते हैं।

प्रस्तुत संग्रह सन् १९५५ में दिये हुए प्रवचनों का संग्रह है। इन प्रवचनों का संग्रह करने वाली प्रोफेसर देवकीदेवी ने ही इस संग्रह का सम्पादन कर भूमिका लिखी है। सुश्री देवकीदेवी केवल कॉलेज की मनोविज्ञान की व्याख्याता ही नहीं, अपितु दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की विचारिका भी हैं और साधनमय जीवन व्यतीत करने के कारण जो विचार इस संग्रह में व्यक्त किए गए हैं, उनका उन्होंने मनन एवं तत्त्व-चिन्तन भी किया है।

इस संग्रह में प्रत्येक प्रवचन का जो शीर्षक दिया गया है, वह उसके किसी-न-किसी अंश का संकेतमात्र है। ये प्रवचन किसी एक विषय को लेकर नहीं दिए गए हैं, प्रत्युत जीवन की समस्याओं पर पूज्य सन्त ने स्वतन्त्र रूप से अपने विचार प्रकट किए हैं। प्रत्येक प्रवचन अपने स्थान पर पूर्ण है; अतः कहीं से भी पढ़कर विचारशील पाठक इस पुस्तक का लाभ उठा सकते हैं।

आशा है कि मानव-जीवन को सार्थक करने के लिए धर्मप्राण और विचारशील पाठक इस संग्रह से लाभान्वित होंगे।

मदनमोहन वर्मा

(मेम्बर, राजस्थान पब्लिक सर्विस कमीशन)

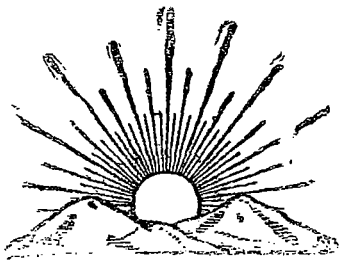

आमुख

मैंने सुना था, मानव-जीवन जैसा प्रतीत होता है, वैसा नहीं है। जो प्रतीत होता है, वह वास्तविकता नहीं है; अर्थात् यह एक भ्रम (Illusion) है। मनोवैज्ञानिक भाषा में संवेदना का गलत अर्थ लगाना भ्रम कहलाता है। मानव को सबसे बड़ा भ्रम (Illusion) अपने जीवन के ही सम्बन्ध में है। वह स्वयं है तो कुछ और, समझता है कुछ और; पर वास्तविकता क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में युग-युग के विचारकों द्वारा भिन्न-भिन्न मत प्रकट किए गए हैं।

उत्पत्ति-विनाश की सीमाओं में आबद्ध मानव-जीवन के चल-जल-प्रवाह पर ही जिनकी दृष्टि रही, उन्होंने Eat, drink and be merry का सिद्धान्त बनाया। हम आए हैं, चले जाएंगे; इसलिए खाओ, पीओ और मौज करो।

समष्टि शक्तियों द्वारा संचालित निरन्तर परिवर्तनशील मिट्टी के पुतलों में भी जिन्हें सनातनता का दर्शन हुआ, उन्होंने उस चिरन्तन तत्त्व की खोज और प्राप्ति के साधन सम्बन्धी बड़े-बड़े दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना की और मानव-जीवन की वास्तविकता को दर्शाया।

आधुनिक वैज्ञानिक युग के क्रान्तिकारी विचारकों ने भी मानव-जीवन को अपने ढंग से समझने की और उसे सफल बनाने की चेष्टा की है। उनमें एक हैं, कार्ल मार्क्स। इन्होंने मानव-जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण को एक नई दिशा में मोड़ा

है। नियतिवाद के विधानानुसार किसी को तो वैभव की गोद में रंगरेलियाँ मनाने का और किसी को दरिद्रता के शिकंजों में फँसकर तरस-तरस रह जाने का औचित्य कार्ल मार्क्स की दृष्टि में नहीं है। मार्क्सवाद के अनुसार व्यक्तिगत योग्यतानुरूप कार्य करना हर व्यक्ति का कर्त्तव्य और आवश्यकतानुसार वस्तु पाना प्रत्येक का अधिकार है। इसके फलस्वरूप वर्तमान युग में श्रम का महत्त्व बढ़ा है; कुल, वंश और वर्ग का आश्रय निर्बल पड़ गया है और मानव-मात्र को समान स्तर पर लाने की चेष्टा की गई है।

इस सिद्धान्त के द्वारा मानव-जीवन के भौतिक पहलू की कुछ गुत्थियाँ सुलझती हुई-सी प्रतीत होती हैं, पर उसकी मौलिक समस्या अब भी उसके प्रगति-पथ पर प्रश्नवाचक चिह्न के रूप में खड़ी है।

मानव-जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण में हलचल मचाने वाले दूसरे विचारक हैं, एस० फ्रायड (S. Freud) इन्होंने हमारे व्यक्त (Conscious) व्यवहारों पर पड़ने वाले अव्यक्त (Unconscious) मन के प्रभावों के विषय में खोज की है। कहते हैं, फ्रायड महोदय ने हमारे जीवन के एक नये रहस्य का उद्घाटन किया है, अर्थात् जीवन सम्बन्धी ज्ञान में एक नया अध्याय जोड़ा है।

मानसिक जीवन के कलेवर (Structure of mental life) की व्याख्या करते हुए इन्होंने यह बताने की चेष्टा की है कि व्यक्त (Conscious) अनुभूतियों के आधार पर व्यक्ति अपने को जैसा समझता है, वस्तुतः वह वैसा है नहीं। उसका असली चित्र तो अव्यक्त (Unconscious) में है।

फ्रायड के अनुसार अव्यक्त मन में दबी हुई अभुक्त कामनाओं के वेग से व्यक्त (Conscious) व्यावहारिक जीवन में विकृति आ जाती है। जिस व्यक्ति के जीवन में जितना ही अधिक दमन (Repression) होता है, उसकी मानसिक शक्ति का उतना ही अधिक ह्रास होता है। फलस्वरूप वह व्यक्ति यथार्थ जीवन की कठिनाइयों का सामना करने में असमर्थ हो जाता है और दुःखमय जीवन यापन करता है। सारांश यह कि व्यक्तित्व के संतुलित विकास के लिए इच्छाओं की सम्यक् पूर्ति आवश्यक है। परन्तु इसमें व्यक्ति कभी स्वाधीन नहीं है, क्योंकि भौतिक, शारीरिक, नैतिक और धार्मिक प्रतिबन्धों के कारण व्यक्ति की कामनाओं की पूर्ति में बाधा पड़ती ही रहती है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से मन का संतुलित होना ही सफल जीवन है। पर मन के संतुलित होने में, अर्थात् प्रत्येक परिस्थिति में अपने को सहर्ष अभियोजित कर लेने की योग्यता प्राप्त करने में फ्रायडियन सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति निरीह, पराश्रित और विवश दीखता है। माता-पिता और वातावरण की उपयुक्तता तथा अनुपयुक्तता पर ही हमारे व्यक्तित्व का संतुलित अथवा विकृत होना निर्भर है; क्योंकि पाँच वर्ष की आयु के भीतर ही मानसिक स्वास्थ्य का गठन हो चुकता है। इस गठन में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता बिल्कुल नहीं है।

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत अपना यह चित्र मनुष्य को संतोषदायक नहीं प्रतीत होता। व्यक्तित्व के निर्माण में तथा जीवन की सफलता में व्यक्तिगत पराधीनता और विवशता बहुत अखरती है। अव्यक्त (Unconscious) मन की क्रियाओं

का चमत्कार हमारे लिए आकर्षक तो है, पर इसके द्वारा जीवन की अनबूझ पहेली और अधिक रहस्यपूर्ण बन जाती है। मौलिक प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है—जीवन क्या है? आज का विचारक-वर्ग मानवता की नई राह खोज रहा है।

प्रस्तुत पुस्तक 'जीवन-दर्शन' हमारी इसी आवश्यकता की पूर्ति है। यह 'जीवन-दर्शन', यह सार्वभौम सत्य (Universal truth) एक ऐसे सिद्ध पुरुष की वाणी द्वारा प्रकट हुआ है, जिन्होंने अपने ही जीवन की घटनाओं के अध्ययन और मनन से जीवन की वास्तविकता को जाना है और अपनी अनुभूतियों के आधार पर प्रतिपादित सिद्धान्तों को लोक-कल्याणार्थ दर्शनरूप में प्रस्तुत किया है।

उक्त संत के सिद्धान्तानुसार ही उनका नाम नहीं दिया जा रहा है; क्योंकि उनका यह विचार है कि नाम के आधार पर जो बात चलती है, वह कालान्तर में खतम हो जाती है और नाम के साथ राग-द्वेष का होना स्वाभाविक है। इसलिए सार्वभौम सत्य के प्रकाशन के साथ नाम न दिया जाए, तो अच्छा है। इसके अतिरिक्त विचार तो अनन्त की विभूति है, है, किसी व्यक्ति की निजी विशेषता नहीं। अतः विचारों का प्रकाशन तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से होता है। उसके साथ किसी व्यक्ति विशेष का नाम जोड़ देना प्रमाद है।

उक्त संत के द्वारा प्रस्तुत दर्शन के अनुसार मानव-जीवन बड़ा ही महत्वपूर्ण है। यह जीवन भ्रम (Illusion) में पड़े रहने के लिए नहीं मिला है; जड़ता, पराधीनता, बन्धन और

मृत्यु की पीड़ाओं को झेलते रहने के लिए नहीं मिला है। यह जीवन तो मानव को साधनयुक्त होकर अपना कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण के लिए मिला है।

मानव उस अनन्त की विभूतियों की लालसामात्र है; जिसकी सत्ता से अखिल ब्रह्माण्ड को सत्ता मिली है और जिसके प्रकाश से अखिल विश्व प्रकाशित है। इस दर्शन के अनुसार मानव में दृश्य जगत् की चाह और वास्तविकता की लालसा विद्यमान है। दृश्य जगत् की चाह के कारण वह रागयुक्त प्रवृत्तियों में रत होता है; वस्तु, व्यक्ति और परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होकर कर्मफल के बन्धन में बँधता है और इच्छा-शक्ति के शेष रहते हो प्राणशक्ति का क्षय हो जाने के कारण बार-बार शरीर धारण करता हुआ अनेक प्रकार के कष्ट भोगता है।

वास्तविकता की लालसा के कारण वह घोर प्रवृत्तियों में रत रहता हुआ भी परिवर्तनशील, सुख-दुःखपूर्ण, सीमित जीवन से असंतुष्ट होता है; सब प्रकार के अभावों का अभाव कर नित्य, चिन्मय, रसपूर्ण जीवन की उपलब्धि चाहता है। अतः मानव-जीवन का एकमात्र लक्ष्य है – दृश्य की चाह से निवृत्त होकर वास्तविकता को प्राप्त करना अर्थात् ज्ञान, योग और प्रेम बन जाना।

इस लक्ष्य की प्राप्ति में प्रत्येक मानव स्वाधीन है। कोई भी वस्तु, व्यक्ति और परिस्थिति मनुष्य के लिए लक्ष्य-प्राप्ति में बाधक नहीं है, प्रत्युत साधन-सामग्री है। मानव-जीवन इनकी दासता में आबद्ध होने के लिए नहीं, वरन्

विवेकपूर्वक इनका सदुपयोग कर विजातीय से असङ्गता और सजातीय से अभिन्नता प्राप्त करने के लिए मिला है।

वह विवेक, जो भौतिक दृष्टि से चरम विकास, आध्यात्मिक दृष्टि से अपनी ही एक विभूति और आस्तिक दृष्टि से प्रभु की कृपा-शक्ति रूप है, मानव-मात्र को प्राप्त है। उसी के प्रकाश में सभी को चलना है। यह विवेक कोई मत-वाद नहीं, सम्प्रदाय नहीं; वह मानव-मात्र का पथ-प्रदर्शक है। उसके उपयोग द्वारा प्रत्येक मानव लक्ष्य-प्राप्ति में समथ हो सकता है। यही प्रस्तुत 'जीवन-दर्शन' की संक्षिप्त रूप-रेखा है, अथवा भ्रमित, त्रसित पोड़ित मानव-जीवन को साधन-युक्त बनाकर साध्य से अभिन्न करा देने का महामन्त्र है।

यह दार्शनिक सिद्धान्त मानव को निराशा, पराधीनता, जड़ता और मृत्यु के भय से मुक्त करने वाला है। इसके अनु-सार मानव-मात्र को वह स्वाधीनता, विवेक और सामर्थ्य स्वतः प्राप्त है, जिनके द्वारा मनुष्य साधनयुक्त होकर अमरत्व और अनन्त रस प्राप्त कर सकता है। यह आश्वासन ही व्यथित और निराश मनुष्य को नव-जीवन प्रदान करने वाला है।

इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार आध्यात्मिकता और भौतिकता के बीच गहरी खाई मानना भी व्यर्थ सिद्ध होता है। वर्तमान युग के वैज्ञानिक चमत्कारों से प्रभावित बुद्धिवादी वर्ग में यह भ्रम पैदा हो गया है कि आध्यात्मिक चर्चा भौतिक विकास में बाधक है, क्योंकि वह निष्क्रियता की पोषक है। जो लोग आध्यात्मिक विकास में लग जाते हैं,, वे

फिर लोक-संग्रह के काम नहीं आ सकते। परन्तु प्रस्तुत 'जीवन-दर्शन' में कर्म-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान को मानवता का अभिन्न अङ्ग बताया गया है। पूर्ण मानव होने के लिए कर्म-विज्ञान द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण तथा अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अपने कल्याण को अनिवार्य सिद्ध किया गया है। इसमें कहीं भी आध्यात्मिक विकास और भौतिक विकास में विरोध दिखाई नहीं देता, प्रत्युत दोनों को एक दूसरे का पोषक सिद्ध किया गया है। साधक को सिद्धि दिलाने के लिए दोनों ही साधनरूप हैं। कर्म-विज्ञान के अनुसार प्राप्त योग्यता, सामर्थ्य और परिस्थिति का सदुपयोग किए बिना आध्यात्मिक जीवन में प्रगति सम्भव नहीं है तथा अध्यात्म-विज्ञान के अनुरूप जीवन बनाए बिना जन-कल्याण और विश्व-शान्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार मानव के सर्वाङ्गपूर्ण चरम विकास का सुन्दर चित्र इस दर्शन में चित्रित है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

इस 'जीवन-दर्शन' में सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। भाषा गहन है; युक्तियाँ अकाट्य हैं; पर दैनिक जीवन की घटनाओं के माध्यम से उनकी व्याख्या अति सरल रूप में की गई है। जो कुछ कहा गया है, सब निश्चयात्मक शब्दों में। इसके निर्णय स्वतः सिद्ध हैं। उनके लिए न प्रमाण की आवश्यकता है और न कहीं शङ्का की गुंजाइश है।

मैं तो जब-जब इस पुस्तक को पढ़ती हूँ, तब-तब ऐसा मालूम होता है कि वर्तमान बुद्धिवादी युग के कल्याणार्थ ही इस दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ है। इसमें कोई ऐसी बात नहीं कही गई है, जो अब तक के विचारकों को किसी-न-किसी रूप

में ज्ञात नहीं थी। पर इसके प्रतिपादनकर्ता ने युग की चिन्तन-धारा में अपनी चिन्तन-धारा मिलाकर विचार किया है।

इस 'जीवन-दर्शन' की यह एक और विलक्षणता है कि मानव-जीवन के वास्तविक स्वरूप का स्पष्ट दर्शन कराने के साथ-साथ उसकी प्राप्ति के अति सुगम साधन भी बताए गए हैं, जो साधक की व्यक्तिगत भिन्नता (Individual difference) को ध्यान में रखकर निर्धारित किए गए हैं। यद्यपि स्वरूप से मानवमात्र एक है और साध्य भी सबका एक है, फिर भी योग्यता भेद से साधन में भेद होना स्वाभाविक है। इस बात पर पूरा ध्यान रखकर साधन की चर्चा की गई है। प्रत्येक समस्या को अध्यात्मवाद, भौतिकवाद और आस्तिक-वाद की दृष्टि से हल किया गया है।

इस पुस्तक में केवल सिद्धान्तों का ही निरूपण नहीं हुआ, प्रत्युत ऐसे साधन भी बताए गए हैं, जो दुर्बल-से-दुर्बल, असहाय-से-असहाय साधक को भी साध्य से मिला देने में समर्थ हैं। उन साधनों के लिए बाह्य परिस्थिति, योग्यता, वस्तु और देश-काल की अपेक्षा नहीं है। इसलिए इस क्षेत्र में सभी मनुष्य समान हैं। पढ़े-लिखे और बेपढ़े, धनी-निर्धन, सबल-निर्बल, सभी साधक हो सकते हैं और सभी साध्य से मिल सकते हैं। आज के साम्यवादी युग के लिए इससे बढ़कर साम्यवाद की सार्थकता और क्या हो सकती है?

साधारण दृष्टि से मालूम होगा कि इस पुस्तक में निर्णीत सिद्धान्तों की पुनरावृत्ति अनेक बार हुई है, किन्तु रहस्य को स्पष्ट करने के लिए पुनरावृत्ति अनिवार्य है। अतः यह वास्तव में कोई दोष नहीं है; क्योंकि साधक अनेक श्रेणी के

होते हैं, उनको भिन्न-भिन्न ढंग से समझाना पड़ता है, इसलिए पुनरावृत्ति आवश्यक है।

इस दर्शन का विषय सनातन है, पर अभिव्यक्ति आधुनिक है, जो वर्तमान युग की मानवता की माँग पूरी करने में समर्थ है। आशातीत सफलता का मार्ग प्रदर्शन करने वाला यह 'जीवन-दर्शन' मानवमात्र के भौतिक और मानसिक जीवन को चरम विकास तक पहुँचाकर वास्तविकता की उपलब्धि कराने वाला है।

यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की ऐसी ठोस व्याख्या है कि इसके सम्बन्ध में कुछ भी कह सकना साधारण बुद्धि की सामर्थ्य से बाहर है। फिर भी इसे पढ़कर जो प्रकाश और उल्लास मिला है, उससे जीवन अनुप्राणित हो उठा है। इसलिए उसे प्रकट किए बिना मुझसे रहा नहीं गया। अतः मेरी तुच्छ मति से जितना ग्राह्य हो सका और उसमें से भी जितना अभिव्यक्त कर सकी, वह लिख दिया है। ज्ञान-प्रेम की निर्मल अविरल गति से बह रही है, यह पात्र की योग्यता पर निर्भर है कि जो जितना अपने में भर सके, भर ले।

निर्माण-निकेतन
राँची (बिहार)
ता० ६-२-५६

विनीता
देवकी
एम० ए० (मनोविज्ञान)

(प्रार्थना प्राणी की पुकार है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से
दुखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवम्
सुखी प्राणियों के हृदय में
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जाएँ !

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१—निःसंदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति	१
२—प्रवृत्ति और निवृत्ति	६
३—निष्कामता में ही सफलता है	१०
४—पराश्रय का त्याग और सेवा	१५
५—कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन	१९
६—साधन-तत्त्व	२८
७—वर्तमान जीवन का सदुपयोग	३४
८—साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है	४०
९—वर्तमान का आदर ही साधन है	४६
१०—स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति	५२
११—'मैं' का स्वरूप	५८
१२—त्याग और प्रेम	६६
१३—विवेक की अलौकिकता	७०
१४—व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन	७४
१५—उपासना का रहस्य	७९
१६—निःसंदेहता तथा प्रीति	८३
१७—कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति	८९
१८—कामना-निवृत्ति का महत्त्व	९५
१९—जीवन का परम पुरुषार्थ	१००
२०—असङ्गता और प्रेम	१०४

विषय	पृष्ठ-संख्या
२१—दोषों का मूल – असावधानी	११०
२२—गुण, दोष और उनकी निवृत्ति	११६
२३—साधनरूप मान्यताएँ	१२२
२४—अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति	१२७
२५—विवेक से प्रीति	१३५
२६—उद्देश्य और उसकी पूर्ति	१३९
२७—कर्तव्य-मीमांसा	१४५
२८—क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय	१५१
२९—परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन	१५४
३०—ममता का त्याग और प्रेम	१५८
३१—अचाह में अभिन्नता	१६३
३२—श्रमरहित साधन	१६९
३३—साधन-भेद और साध्य की एकता	१७४
३४—बाह्य दृष्टियों का सदुपयोग	१७८
३५—चिर-शान्ति और सरसता	१८२

(१)

निस्संदेहता से लक्ष्य की प्राप्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निस्संदेहता के बिना न तो साधन का निर्माण हो सकता है और न साध्य की उपलब्धि ही। इस दृष्टि से निस्संदेहता साधन की भूमि है और साधन के निर्माण में ही साध्य की प्राप्ति है।

अब विचार यह करना है कि निस्संदेहता प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए? तो कहना होगा कि निस्संदेहता दो प्रकार से प्राप्त होती है – एक तो जिज्ञासा की पूर्ति में और दूसरी विकल्परहित विश्वास में। जब तक जिज्ञासा की पूर्ति नहीं होती, तब तक भी निस्संदेहता नहीं आती और जब तक दो विश्वास रहते हैं, तब तक भी निस्संदेहता नहीं आती। संदेह की वेदना जिज्ञासा की जागृति में हेतु है और जिज्ञासा की जागृति कामनाओं की निवृत्ति का कारण है। कामनाओं की निवृत्ति से जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है; फिर निस्संदेहता स्वतः प्राप्त हो जाती है।

सन्देह की उत्पत्ति सर्वदा अधूरी जानकारी में होती है, पूरी में नहीं तथा उस पर भी सन्देह नहीं होता, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। इस दृष्टि से सन्देह करने योग्य क्या है? तो कहना होगा कि 'मैं' और 'यह'। क्योंकि 'यह'

की प्रतीति तो हो रही है, पर उसकी पूरी जानकारी नहीं है और 'मैं' को मानते तो हैं, पर जानते नहीं। अतः जो प्रतीत हो रहा है, उस पर सन्देह हो सकता है और जो मान्यता है, उस पर भी सन्देह हो सकता है।

यह सभी को मान्य होगा कि जिसे 'यह' कहते हैं, उसे 'मैं' नहीं कह सकते और जिसे 'मैं' कहते हैं, उसे 'यह' नहीं कह सकते एवं 'यह' और 'मैं', इन दोनों में नित्य-सम्बन्ध भी नहीं हो सकता; क्योंकि 'यह' के परिवर्तन का जिसे ज्ञान है, उसे अपने परिवर्तन का ज्ञान नहीं है। इस दृष्टि से परिवर्तन-शील और अपरिवर्तनशील का नित्य-सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। हाँ, यह अवश्य है कि परिवर्तनशील से मानी हुई एकता हो सकती है; क्योंकि 'यह' से ममता कर सकते हैं, परन्तु नित्य-सम्बन्ध नहीं।

इस दृष्टि से 'यह' और 'मैं' का विभाजन अनिवार्य है, जिसके करते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है और केवल यही तीव्र जिज्ञासा जागृत् होती है कि वास्तविकता क्या है! ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल और स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों जिज्ञासु का अहंभाव गलकर जिज्ञासा से अभिन्न होता जाता है। जिस काल में जिज्ञासा अहंभाव को खाकर पुष्ट हो जाती है, उसी काल में उसकी पूर्ति स्वतः हो जाती है, अर्थात् वह वास्तविकता से अभिन्न हो जाती है। फिर सन्देह-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती।

'यह', 'मैं' नहीं है, इसे स्वीकार करते ही 'यह' से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है अर्थात् 'यह' की ममता मिट जाती है, जिसके मिटते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो जाता

है। फिर 'मैं' सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अपने वास्तविक जीवन को पा लेता है। इस दृष्टि से 'यह' को जानते ही 'मैं' को और 'मैं' को जानते ही वास्तविकता को जानकर निस्संदेह हो जाता है। निस्संदेहता प्राप्त होते ही सभी समस्याएँ स्वत: हल हो जाती हैं।

अत: निस्संदेहता प्राप्त करने के लिए हमें वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए। जब तक सन्देह की वेदना अत्यन्त तीव्र नहीं हो जाती, तब तक सन्देह मिटाने की योग्यता नहीं आती। यहाँ तक कि यदि किसी को प्यास लगी हो और उससे कहा जाए कि तुम पहले पानी पीना चाहते हो अथवा निस्संदेह होना चाहते हो ? इस पर यदि वह यह कहे कि मुझे निस्संदेह होना है, पानी नहीं पीना है, तो समझना चाहिए कि सन्देह की वेदना जागृत् हो गई। असह्य वेदना होते ही उसकी निवृत्ति स्वत: हो जाती है। यह सब कुछ जिसके प्रकाश से प्रकाशित है और जिसकी सत्ता से सत्ता पाता है, उसकी कृपाशक्ति स्वत: सन्देह-निवृत्ति की योग्यता प्रदान कर देती है, क्योंकि वह सब प्रकार से समर्थ है।

अब यदि कोई यह कहे कि जिसकी कृपाशक्ति जिज्ञासु को जिज्ञासा प्रति की सामर्थ्य प्रदान करती है, उसे हम कैसे मान लें, जब कि जानते नहीं हैं ? तो कहना होगा कि जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते हैं, उसी को तो मानना है। जानने के पश्चात् तो मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। अथवा जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते है, उस पर तो सन्देह हो सकता है, विश्वास नहीं। विश्वास उसी पर किया जाता है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। वह एक ही विश्वास करने योग्य

है। शरीर, वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि कोई भी जो 'यह' के अर्थ में आते हैं, विश्वास करने योग्य नहीं हैं; क्योंकि इन सबसे हमारा नित्य-सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अब यदि कोई यह कहे कि हम तो शरीर आदि पर विश्वास न करके अपने पर विश्वास करेंगे। तो कहना होगा कि किसी ने अपने को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा देखा नहीं। बुद्धि आदि के द्वारा जिसे देखा, वह विश्वास के योग्य नहीं और जिसने बुद्धि आदि को जाना, वह किसी मान्यता में आबद्ध नहीं हो सकता।

अब कोई यह कहे कि हम तो उसी का नाम 'मैं' मान लेते हैं। तो पूछना होगा कि फिर 'है' किसको मानोगे ? 'मैं', 'है' की अपेक्षा सीमित है। अतः अपने पर विश्वास की बात कहना भी तो मानना ही है, जानना नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि हम उस अनन्त की कृपाशक्ति को ही अपनी कृपा मान लें, अथवा उस अनन्त को ही हम अपना स्वरूप मान लें, परन्तु ऐसी मान्यता का अर्थ यह होगा मानो जल-कण कहता है कि समस्त सागर मेरा है। सागर तो यह कह सकता है कि जल-कण मेरा ही स्वरूप है, पर जल-कण का ऐसा कहना उपयुक्त नहीं मालूम होता।

जल-कण यह तो कह सकता है कि मैं सागर का हूँ, मेरी और सागर की जाति में कोई भेद नहीं है। अथवा यों कहो कि जल-कण सागर की प्रीति बनकर सागर में ही निवास कर सकता है। इस दृष्टि से उस 'एक' का विश्वास ही हमें निस्संदेहता प्रदान कर सकता है। अतः जिज्ञासा की पूर्ति में अथवा एक विश्वास में ही निस्संदेहता निहित है।

सन्देह से निस्संदेहता प्राप्त करना जिज्ञासुओं की साधना है और विश्वास से निस्संदेहता प्राप्त करना विश्वास-मार्गियों की साधना है। यह नियम है कि जब अनेक विश्वास एक विश्वास में विलीन हो जाते हैं, तब अनेक सम्बन्ध एक सम्बन्ध में और अनेक इच्छाएँ एक प्रिय-लालसा में विलीन हो जाती हैं। प्रिय-लालसा प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से विश्वास के आधार पर वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

(२)

प्रवृत्ति और निवृत्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह विदित होता है कि समस्त जीवन दो भागों में विभाजित है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। यद्यपि उन दोनों भागों का उद्देश्य एक है; क्योंकि जीवन एक है; परन्तु उद्देश्य-पूर्ति के लिए साधन-दृष्टि से दो भागों में विभाजन हो सकता है।

प्रत्येक प्रवृत्ति का उद्गम स्थान देहाभिमान तथा विद्यमान राग है। प्रत्येक प्रवृत्ति के अन्त में निवृत्ति का आना स्वाभाविक है; क्योंकि प्रवृत्ति से प्राप्त शक्ति का व्यय होता है और निवृत्ति द्वारा पुनः शक्ति का संचय होता है। विद्यमान राग की निवृत्ति में ही प्रवृत्ति का सदुपयोग निहित है और नवीन राग की उत्पत्ति न होने तथा प्रवृत्ति की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए ही निवृत्ति अपेक्षित है।

अब हमें अपनी प्रवृत्तियों का निरीक्षण करना है कि हमारी प्रवृत्तियाँ सुख-भोग की आसक्ति तथा देहाभिमान को पुष्ट करने में हैं अथवा विद्यमान राग की निवृत्ति में। जिन प्रवृत्तियों के द्वारा हम वस्तु, व्यक्ति आदि से अपने सुख-सम्पादन की आशा करते हैं, वे सभी देहाभिमान को पुष्ट करती हैं और हमें लोभ, मोह आदि दोषों में आबद्ध करती हैं। अतः ऐसी प्रवृत्तियों के द्वारा प्रवृत्ति की सार्थकता सिद्ध नहीं

होती, अपितु दोषों की ही वृद्धि होती है, जिससे हम जड़ता और शक्तिहीनता में आबद्ध हो जाते हैं।

परन्तु जिन प्रवृत्तियों में दूसरों का हित तथा प्रसन्नता निहित है, वे प्रवृत्तियाँ विद्यमान राग की निवृत्ति करने में समर्थ हैं और उनके अन्त में स्वभाव से ही वास्तविकता की जिज्ञासा जागृत होती है। जिज्ञासा नवीन राग को उत्पन्न नहीं होने देती, अपितु सहज निवृत्ति को जन्म देती है, जो विकास का मूल है। सहज निवृत्ति से आवश्यक सामर्थ्य स्वतः प्राप्त होती है।

रागरहित होने के लिए सर्वहितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति साधनरूप है, साध्य नहीं। अतः हमें अपने में-से, 'मैं सर्वहितैषी हूँ', 'मैं अचाह हूँ' अथवा 'मुझे अपने लिए संसार से कुछ नहीं चाहिए'—यह अहंभाव भी गला देना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब सर्वहितकारी प्रवृत्ति होने पर भी अपने में करने का अभिमान न हो और चाहरहित होने पर भी, 'मैं चाहरहित हूँ'—ऐसा भास न हो; कारण, कि अहंभाव के रहते हुए वास्तव में कोई अचाह हो नहीं सकता, क्योंकि सेवा तथा त्याग का अभिमान भी किसी राग से कम नहीं है।

सूक्ष्म राग कालान्तर में घोर राग में आबद्ध कर देता है। राग का अत्यन्त अभाव तभी हो सकता है, जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुण का अभिमान न हो; क्योंकि अभिमान के रहते हुए अनन्त से अभिन्नता सम्भव नहीं है और उसके बिना कोई भी वीतराग हो ही नहीं सकता; कारण, कि सीमित अहंभाव के रहते हुए राग का अत्यन्त अभाव नहीं हो सकता।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति ही वास्तविक निवृत्ति की जननी है; क्योंकि सर्वात्म-भाव दृढ़ होने पर ही निवृत्ति आती है और सर्वहितकारी प्रवृत्ति से ही सर्वात्म-भाव की उपलब्धि होती है। अपने ही समान सभी के प्रति प्रियता उदय हो जाने पर ही सर्वहितकारी प्रवृत्ति की सिद्धि होती है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति वास्तव में किए हुए संग्रह का प्रायश्चित्त है, कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है और निवृत्ति प्राकृतिक विधान है; उसे अपनी महिमा मान लेना मिथ्या अभिमान को ही जन्म देना है, और कुछ नहीं। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति को ही जीवन मत मान लो। प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप साधन से वास्तविक जीवन की प्राप्ति हो सकती है।

सर्वहितकारी प्रवृत्ति की रुचि सहज निवृत्ति के लिए अपेक्षित है और सहज निवृत्ति काम का अन्त करने का साधन है। साधन में कर्तृत्वभाव तभी तक रहता है, जब तक साधक का समस्त जीवन साधन नहीं बन जाता। साधक का समस्त जीवन तब तक साधन नहीं बन सकता, जब तक वह करने और पाने की रुचि में आबद्ध रहता है।

करने और पाने की रुचि तब तक रहती है, जब तक हम उस अनन्त से मिली हुई योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तुओं को अपनी मानते हैं और उनके आधार पर अपना व्यक्तित्व स्वीकार करते हैं, जो अविवेकसिद्ध है; कारण, कि समस्त सृष्टि एक है, उसका प्रकाशक, उसका ज्ञाता और उसका आधार भी एक है, तो फिर हमारे व्यक्तित्व के लिए स्थान ही कहाँ है? जिसे हम अपना मानते हैं, वह उस सृष्टि का ही एक अंश है। अतः वह उसी की वस्तु है, जिसकी यह सृष्टि

है। व्यक्तित्व का अभिमान गलाने के लिए सर्वहितकारी प्रवृत्ति तथा निवृत्ति की अपेक्षा है। सर्वहितकारी प्रवृत्ति हमें ऋण से मुक्त कर सुन्दर समाज का निर्माण करती है और निवृत्ति हमें स्वाधीनता प्रदान कर अनन्त से अभिन्न करती है, जिसमें वास्तविक जीवन है।

सब प्रकार के संघर्ष का अन्त सर्वहितकारी प्रवृत्ति में निहित है; क्योंकि सर्वहितकारी प्रवृत्ति स्नेह की एकता प्रदान करती है। प्रवृत्ति स्वरूप से छोटी हो या बड़ी; परन्तु उसके मूल में यदि सर्वहितकारी भाव है, तो वह विभु हो जाती है। वह विश्व-शान्ति की स्थापना में समर्थ है; क्योंकि स्नेह की एकता वह काम नहीं करने देती, जो नहीं करना चाहिए और वह स्वतः होने लगता है, जो करना चाहिए। उसके होते ही जीवन में व्यापकता आ जाती है, जिसके आते ही सब प्रकार की आसक्तियों का अन्त हो जाता है। आसक्तियों का अन्त होते ही उस दिव्य चिन्मय प्रीति का उदय होता है, जो अपने ही में अपने प्रीतम को मिलाकर नित-नव रस प्रदान करती है। यही हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

(३)

निष्कामता में ही सफलता है

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निष्कामता ही सफलता की कुन्जी है। निष्कामता के बिना निर्दोषता नहीं आती और दोषरहित हुए बिना हम अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। दोषी की आवश्यकता तो किसी को भी नहीं होती, सभी को अपना साथी निर्दोष चाहिए। इस दृष्टि से निष्कामता जीवन की वास्तविक आवश्यकता है।

अब विचार यह करना है कि निष्कामता प्राप्त करने के लिए हमें क्या करना चाहिए ? तो कहना होगा कि निष्कामता उसे ही प्राप्त हो सकती है, जो वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि से अपना मूल्य बढ़ा लेता है। यद्यपि कोई भी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति ऐसी हो ही नहीं सकती, जो हमारे दिये हुए महत्त्व एवं सहयोग के बिना हम पर शासन कर सके, परन्तु हम इस रहस्य को भूल जाते हैं; प्रत्युत वस्तु, अवस्था, परिस्थितियों के आधार पर अपना मूल्य आँकने लगते हैं। बस, हमारी यही भूल हमें निष्काम नहीं होने देती।

हाँ, यह अवश्य है कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना है, पर न तो उसकी दासता में आबद्ध होना है और न किसी अप्राप्त परिस्थिति का आह्वान करना है; क्योंकि सभी

परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। कोई परिस्थिति किसी परिस्थिति की अपेक्षा भले ही सुन्दर प्रतीत हो, परन्तु वास्तविकता की दृष्टि से उनमें कोई भेद नहीं है; क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति साधनरूप है, साध्यरूप नहीं। अतः प्रत्येक परिस्थिति का महत्त्व उसके सदुपयोग में है, किसी परिस्थिति-विशेष में नहीं। हमें प्राप्त परिस्थिति का आदर करना चाहिए, पर उससे ममता और उसमें जीवन-बुद्धि नहीं करनी चाहिए, अपितु साधन-बुद्धि रखनी चाहिए। ऐसा करने से बड़ी ही सुगमतापूर्वक परिस्थितियों से अतीत के उस जीवन पर विश्वास हो जाएगा, जो निष्कामता प्रदान करने में समर्थ है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है, उसके आदरपूर्वक सदुपयोग में ही सभी का हित निहित है। परन्तु कामना-अपूर्ति के भय और कामना-पूर्ति की आसक्ति के कारण हम परिस्थितियों में भेद करने लगते हैं तथा प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग की अपेक्षा परिस्थिति-परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जो सामर्थ्य वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग के लिए मिली थी, उसे अप्राप्त परिस्थिति की प्राप्ति के प्रयास में लगा देते हैं, जिससे प्राप्त परिस्थिति का भी सदुपयोग नहीं हो पाता और उत्कृष्ट परिस्थिति भी प्राप्त नहीं होती। प्राकृतिक नियम के अनुसार प्राप्त परिस्थिति के सदुपयोग से ही उत्कृष्ट परिस्थिति अथवा परिस्थितियों से असंगता प्राप्त होती है, जो वास्तविक निष्कामता है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उस प्राकृतिक विधान

का आदर कैसे करें, जो कामना-अपूर्ति के दुःख में हेतु है ? तो कहना होगा कि कामना-अपूर्ति का दुःख कामना-पूर्ति के सुख की दासता से मुक्त करने के लिए आया था, जिसे पाकर हम भयभीत हो गए। यह भूल गए कि कामना-पूर्ति के सुख से अतीत भी एक जीवन है, जो कामना-पूर्ति की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से प्राकृतिक न्याय में हमारा हित ही निहित है। अतः उसका आदर करना अनिवार्य है।

भौतिक विज्ञान की दृष्टि से प्रत्येक वस्तु अनन्त है, उसमें कमी नहीं है। फिर भी हमें यदि वस्तुएँ प्राप्त नहीं हैं, तो समझना चाहिए कि हम वस्तुओं के अधिकारी नहीं हैं। प्रकृति के विधान में किसी से राग-द्वेष नहीं है, उसमें तो सभी के प्रति समानता है। अतः जो वस्तुएँ हमारे बिना रह सकती हैं अथवा हमें अप्राप्त हैं, उनकी अप्राप्ति में ही हमारा विकास निहित है।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तुओं के बिना तो हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता। तो कहना होगा कि जो अस्तित्व वस्तुओं के आश्रित है, वह क्या हमारा अस्तित्व है ? कदापि नहीं। इस दृष्टि से तो वस्तुओं का ही अस्तित्व सिद्ध होगा, हमारा नहीं। हमारा अस्तित्व तो तभी सिद्ध हो सकता है, जब हम वस्तुओं से अतीत के उस जीवन को प्राप्त कर लें, जो निष्कामता से ही प्राप्त हो सकता है। निष्कामता हमें प्राप्त वस्तुओं के सदुपयोग और अप्राप्त वस्तुओं की कामना के त्याग का पाठ पढ़ाती है, न तो वस्तुओं के संग्रह की प्रेरणा देती है और न अप्राप्त वस्तुओं के आह्वान की ही।

वस्तुओं का संग्रही तथा वस्तुओं का आह्वान करने वाला निष्काम नहीं हो सकता। निष्कामता आ जाने पर प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग होने लगता है और आवश्यक वस्तुएँ प्रकृति के विधान से स्वतः मिलने लगती हैं। परन्तु कब ? जब न तो वस्तुओं के अभाव से हम क्षुब्ध हों, न प्राप्त वस्तुओं में हमारी ममता हो, न उनका दुरुपयोग हो और न वस्तुओं के आधार पर हम अपना अस्तित्व ही मानें।

जिस प्रकार सूर्य के सम्मुख होते ही छाया हमारे पीछे दौड़ती है और सूर्य से विमुख होने पर हम छाया के पीछे दौड़ते हैं, पर उसे पकड़ नहीं पाते; उसी प्रकार निष्कामता-रूपी सूर्य के सम्मुख होते ही छायारूपी वस्तुएँ हमारे पीछे दौड़ती हैं और विमुख होते ही हम छायारूपी वस्तुओं के पीछे दौड़ते हैं, पर उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते।

प्राप्त वस्तु, बल और विवेक किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति नहीं है, अपितु किसी की देन है। अब यदि कोई यह कहे कि हमें जो कुछ मिला है, वह हमारे ही कर्म का फल है। तो कहना होगा कि कर्म करने की सामर्थ्य क्या आपकी अपनी है ? यदि आपकी अपनी है, तो आप किसी प्रकार का अभाव क्यों अनुभव करते हैं और प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीन क्यों होते हैं ? शक्तिहीनता की अनुभूति यह सिद्ध करती है कि सामर्थ्य किसी व्यक्ति की अपनी नहीं है। वह उसी की देन है, जिसके प्रकाश से समस्त विश्व प्रकाशित है। उसकी दी हुई सामर्थ्य को अपनी मान लेना कहाँ तक न्याय संगत है ?

हाँ, यह अवश्य है कि जिसने हमें सब कुछ दिया है, उसने अपने को गुप्त रखा है, अर्थात् 'मैं देता हूँ', यह प्रकाशित

नहीं किया। इतना ही नहीं, उसने अपने को इतना छिपाया है कि जिसे देता है, उसे वह मिली हुई वस्तु अपनी ही मालूम होती है, किसी और की नहीं। भला, जिसमें इतनी आत्मीयता है इतना सौहार्द है, क्या हमने कभी एक बार भी वस्तुओं से विमुख होकर उसकी ओर देखा ?

जिसकी ओर हम एक बार भी नहीं देख सके, वह सर्वदा हमारी ओर देखता है। यदि ऐसा न होता, तो असमर्थ होने पर बिना ही यत्न के सामर्थ्य कैसे मिलती ? इस दृष्टि से हमें निष्काम होकर मिली हुई सामर्थ्य का प्राप्त विवेक के प्रकाश में उसी के नाते उपयोग करना है और उसी अनन्त की ओर देखना है, जो हमारी ओर सदैव देखता है। उसकी ओर देखते ही हम उसके हो जाएँगे, जिसके होते ही सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाएगा और दिव्य चिन्मय जीवन प्राप्त होगा, जो हमारी वास्तविक आवश्यकता है।

(४)

पराश्रय का त्याग और सेवा

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि सब प्रकार के अभाव का कारण एकमात्र पराश्रय है; क्योंकि 'पर' का आश्रय ही हमें जड़ता में आबद्ध करता है, सीमित बनाता है और अनेक प्रकार की आसक्तियों को जन्म देता है। इस दृष्टि से पराश्रय का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

आसक्तियों के रहते हुए प्रीति का उदय नहीं होता। प्रीति के बिना नित-नव रस की उपलब्धि नहीं होती, अपितु चित्त में खिन्नता ही निवास करती है, जो हमें क्रोधी बनाकर कर्तव्य से च्युत कर देती है। अतः किसी भी आसक्ति का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

सीमित होते ही कामनाओं का उदय होता है, जो स्वाधीनता का अपहरण करने में हेतु है। स्वाधीनता का अपहरण होते ही हम जड़ता में आबद्ध होकर दिव्य चिन्मय जीवन से विमुख हो जाते हैं। अतः पराश्रय का अन्त करने के लिए हमें वर्तमान में ही प्रयत्नशील होना चाहिए।

पराश्रय का अन्त करने के लिए हमें सर्वप्रथम पर-आश्रय के भाव को पर-सेवा की सद्भावना में परिवर्तित

करना होगा; क्योंकि जिसकी सेवा करने का सुअवसर मिल जाता है, उसकी आसक्ति मिट जाती है और जिसमें आसक्ति नहीं रहती, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। अतः पर-सेवा की सद्भावना हमें 'पर' के आश्रय से मुक्त करने में समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि 'पर' का अर्थ क्या है? तो कहना होगा कि जिसका वियोग अनिवार्य हो, वही 'पर' है। इस दृष्टि से किसी अन्य की तो बात ही क्या है, शरीर भी 'पर' के ही अर्थ में आता है। अतः सर्व प्रथम हमें शरीर की सेवा करनी है। यह तभी सम्भव होगा, जब हम शरीर के अभिमान का त्याग करें। शरीर के अभिमान का त्याग करते ही निर्वासना आ जाएगी। वासनाओं का अन्त होते ही इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाएंगे। फिर समस्त विश्व की सेवा स्वतः होने लगेगी; क्योंकि सेवा उन्हीं साधनों से की जा सकती है, जिनमें शुद्धता हो। इन्द्रियों की शुद्धता से सदाचार की प्राप्ति और समाज के चरित्र का निर्माण होगा। मन की शुद्धता से अशुद्ध संकल्प मिट जाएंगे और निर्विकल्पता आ जाएगी।

निर्विकल्पता आते ही मन विभु हो जाएगा, जिससे समस्त विश्व की मूक सेवा होने लगेगी। बुद्धि की शुद्धता विषमता का विनाश कर देगी, जिससे भिन्नता मिट जाएगी और एकता आ जाएगी, जो चिर-शान्ति की स्थापना करने में समर्थ है और जिसमें सब प्रकार के विकास की सामर्थ्य निहित है। इस दृष्टि से शरीर की सेवा में ही समस्त विश्व की सेवा विद्यमान है।

सेवा वही कर सकता है, जो किसी का बुरा न चाहे। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह अपने से दुखियों को देखकर करुणा से द्रवित और सुखियों को देखकर प्रसन्न होने लगता है, अथवा यों कहो कि करुणा और प्रसन्नता उसका स्वभाव बन जाता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति को और प्रसन्नता सुख-भोग की कामना को खा लेती है। कामना और आसक्ति के मिटते ही बाह्य-सेवा भी स्वतः होने लगती है, अर्थात् न्यायपूर्वक उपार्जित अर्थ और सम्पादित सामर्थ्य तथा योग्यता से रोगी, बालक, विरक्त, जो सत्य के अन्वेषण में लगे हैं, की सेवा स्वाभाविक होने लगती है, क्योंकि ये तीनों ही सेवा के पात्र हैं।

यह भलीभाँति जान लेना चाहिए कि सेवा का अन्त भोग में नहीं, अपितु त्याग में है और त्याग का अन्त है, केवल शान्ति और प्रेम में। यह नियम है कि जिन साधनों से हम सेवा करते हैं, उनकी ममता मिट जाती है और जिनकी हम सेवा करते हैं, उनमें सौन्दर्य आ जाता है। ममतारहित होने से स्वाधीनता प्राप्त होती है और हमारे तथा सभी व्यक्तियों के निर्माण से सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः हो जाता है।

इस दृष्टि से 'पर' की सेवा में अपना कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण निहित है। एवं 'पर' के आश्रय में अपना और समाज का भी अहित है; क्योंकि जिससे हम ममता कर लेते हैं, वह वस्तु और व्यक्ति दोनों ही विनाश को प्राप्त होते हैं। वस्तु की ममता हमें लोभी बनाकर संग्रह की इच्छा उत्पन्न कर देती है एवं व्यक्तियों की ममता हमें तो मोही बनाती है और उन्हें पराश्रित कर देती है, जिनमें हमारा

मोह होता है। लोभ की बुद्धि ने ही वस्तुओं का अभाव और मोह की बुद्धि ने ही परस्पर में संघर्ष उत्पन्न कर दिया है, जो विनाश का मूल है।

वस्तुओं का उपयोग व्यक्तियों की सेवा में और व्यक्तियों की सेवा व्यक्तियों को विवेकयुक्त बनाने में निहित है; क्योंकि विवेकयुक्त जीवन में ही अपना कल्याण तथा सबका हित विद्यमान है।

पराश्रय मृत्यु की ओर एवं उसका त्याग अमरत्व की ओर ले जाता है। पराश्रय जड़ता में आबद्ध करता है और उसका त्याग चिन्मय जीवन से अभिन्न कर देता है तथा लोभ और मोह का अन्त कर निर्लोभता, निर्मोहता एवं प्रेम प्रदान करता है। निर्लोभता से दरिद्रता और निर्मोहता से अविवेक मिट जाता है तथा प्रेम से अगाध, अनन्त रस की उपलब्धि होती है, जो वास्तविक जीवन है।

—✻—

(५)

कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेचन

वस्तुस्थिति पर विचार करने से ये दो प्रश्न उत्पन्न होते हैं—प्रथम यह कि क्या हम वही कर रहे हैं, जो हमें करना चाहिए अथवा वह भी करते हैं, जो नहीं करना चाहिए ? और दूसरा यह कि जो स्वतः हो रहा है, उसका हम पर क्या प्रभाव है ? अब विचार यह करना है कि हम जो कुछ करते हैं, उसकी उत्पत्ति का कारण क्या है ? तो कहना होगा कि कुछ कार्य तो हम ऐसे करते हैं, जिनका कारण अपने को देह मान लेना है और कुछ कार्य ऐसे होते हैं कि जिनका सम्बन्ध बाह्य सम्पर्क से है, अथवा यों कहो कि करने का उदय हमारी मान्यता में तथा हमारे सम्बन्धों में निहित है।

हाँ, एक बात और है, कुछ क्रियाएँ ऐसी भी होती हैं, जिन्हें हम देहजनित कह सकते हैं। वे क्रियाएँ कर्म नहीं, प्रत्युत देह का स्वभाव हैं। देह के स्वभाव से अतीत की ओर जाने के लिए कर्तव्य का विधान बना है, क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो विवेक की कोई अपेक्षा ही न होती। विवेकयुक्त जीवन में ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या करने योग्य है और क्या नहीं करने योग्य है ? विवेक-रहित जीवन में तो यह प्रश्न ही नहीं उठता कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। जहाँ यह प्रश्न ही नहीं है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, उस जीवन में तो केवल

स्वत: आने वाले सुख-दु:ख का भोग है, सदुपयोग अथवा दुरुपयोग नहीं।

इस दृष्टि से अब हमें अपने द्वारा होने वाली सभी चेष्टाओं को निज-विवेक के प्रकाश में देखना है कि क्या हम वही करते हैं, जो करने योग्य है, अथवा निज-ज्ञान का अनादर करके वह भी कर बैठते हैं, जो नहीं करना चाहिए ! जो नहीं करना चाहिए, उसको करने से अपना तथा दूसरों का अहित ही होता है।

कर्तृत्व के स्थल पर एक बात और विचारणीय है, वह यह कि हम जो कुछ करते हैं, उसका परिणाम हमीं तक सीमित नहीं रहता, अपितु समस्त विश्व में फैलता है; क्योंकि कर्म बिना संगठन के नहीं होता। अत: संगठन से उत्पन्न होने वाले कर्म का परिणाम व्यापक होना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से हम जो कुछ करें, वह इस उद्देश्य को सामने रखकर करना चाहिए कि हमारे द्वारा दूसरों का अहित तो नहीं हो रहा है।

यदि हमारे द्वारा होने वाले कर्मों से दूसरों का अहित हो रहा है, तो हमारा भी अहित निश्चित है; क्योंकि दूसरों के प्रति जो कुछ किया जाता है, वह कई गुना अधिक होकर हमारे प्रति स्वत: होने लगता है। अत: इस कर्म-विज्ञान की दृष्टि से हमें वह नहीं करना चाहिए, जिसमें किसी अन्य का अहित हो, अपितु वह अवश्य करना चाहिए, जिसमें सभी का हित हो।

अब यदि कोई यह पूछे कि हम यह कैसे जानें कि किसमें दूसरे का अहित है ? तो इसका निर्णय करने के लिए

हमें एक ही बात पर ध्यान देना चाहिए कि हम जो कुछ दूसरों के प्रति कर रहे हैं, क्या वही दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये जाने की आशा करते हैं ? दूसरों के द्वारा अपने प्रति हम वही आशा करते हैं, जो करने के योग्य है; क्योंकि हम अपने प्रति दूसरों से न्याय, प्रेम, उदारता, आदर, करुणा एवं क्षमा आदि व्यवहार की ही आशा रखते हैं। जो अपने प्रति चाहते हैं, वही हमें दूसरों के प्रति करना है। ऐसा करने से 'करना', 'होने' में विलीन हो जाता है। फिर हम, जो हो रहा है, उसे देखने लगते हैं।

यह सभी को मान्य होगा कि जो देख रहा है, वह स्वयं नहीं कर रहा है, अर्थात् कर्ता और द्रष्टा एक नहीं होते। हाँ, यह अवश्य जानना है कि जो देख रहा है, उस पर देखने का प्रभाव क्या है ? देखने वाला अपने को कुछ मानकर देख रहा है अथवा सभी मान्यताओं से रहित होकर देख रहा है ? अब विचार यह करना है कि मान्यताओं में आबद्ध होकर देखना क्या है और सभी मान्यताओं से रहित होकर देखना क्या है ? तो कहना होगा कि अपने को इन्द्रियाँ मानकर हम विषयों को देखते हैं, अपने को मन मानकर इन्द्रियों को देखते हैं, बुद्धि होकर मन को देखते हैं और इन सब के अभिमानी होकर बुद्धि को देखते हैं तथा सभी मान्यताओं से रहित होकर उस अभिमानी को देखते हैं, जो सीमित है।

जब हम अपने को कुछ मानकर देखते हैं, तब देखे हुए में हमारी आसक्ति हो जाती है अथवा अरुचि। अरुचि और आसक्ति के कारण हम उस देखे हुए में बँध जाते हैं। फिर जो कुछ देखने में आता है, उसकी वास्तविकता हम नहीं जान

पाते। पर जब विवेक दृष्टि से देखते हैं, तब जो कुछ हमें दिखाई देता है, वह सब या तो अनित्य प्रतीत होता है अथवा केवल अभाव-ही-अभाव या दुःख-ही-दुःख।

इन्द्रियाँ विषयों की दृष्टा हैं, मन इन्द्रियों का दृष्टा है, बुद्धि मन की दृष्टा है और अभिमानी बुद्धि का भी दृष्टा है। जब तक हम उसे ही दृष्टा मान लेते हैं, जो दृश्य है, तब तक जो सर्व का दृष्टा है, उसको अथवा यों कहो कि जो सभी मान्यताओं से अतीत दृष्टा है, उसको नहीं जान पाते।

इन्द्रियों की दृष्टि से समस्त विषय सुखद तथा सत्य प्रतीत होते हैं। जब तक इन्द्रिय-दृष्टि का प्रभाव मन पर रहता है, तब तक मन इन्द्रियों के अधीन होकर विषयों की ओर गतिशील रहता है और जब मन पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होने लगता है, तब इन्द्रियों का प्रभाव मिटने लगता है; क्योंकि जो वस्तु इन्द्रिय-दृष्टि से सत्य और सुन्दर मालूम होती है, वही वस्तु बुद्धि-दृष्टि से असत्य और असुन्दर मालूम होती है। बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होते ही मन विषयों से विमुख हो जाता है। उसके विमुख होते ही इन्द्रियाँ स्वतः विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन बुद्धि में विलीन हो जाता है। उसके विलीन होते ही बुद्धि सम हो जाती है। फिर उस समता का जो दृष्टा है, वह किसी मान्यता में आबद्ध नहीं हो सकता। उस दृष्टा की दृष्टि में सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं है; क्योंकि समस्त सृष्टि तो बुद्धि के सम होते ही विलीन हो जाती है; केवल समता रह जाती है। उस समता का प्रकाशक जो नित्य-ज्ञान है, उसमें सृष्टि-जैसी कोई वस्तु ही नहीं प्रतीत होती, अथवा यों कहो कि उस

ज्ञान से अभिन्न होने पर सब प्रकार के प्रभावों का अभाव हो जाता है; अर्थात् कामनाओं की निवृत्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है, जो वास्तव में जीवन है।

इन्द्रिय-दृष्टि की सत्यता का प्रभाव राग उत्पन्न करता है और राग भोग में प्रवृत्त करता है; किन्तु बुद्धि-दृष्टि की सत्यता राग को वैराग्य में और भोग को योग में परिवर्तित करने में समर्थ है। जब राग वैराग्य में और भोग योग में बदल जाता है, तब दृष्टा में मान्यताओं से अतीत होकर देखने की योग्यता आ जाती है। उससे पूर्व हम जो कुछ देखते हैं, वह किसी-न-किसी मान्यता में आबद्ध होकर ही देखते हैं, अर्थात् उस समय हमारी दृष्टि सीमित रहती है, दूरदर्शिनी नहीं रहती। इस कारण जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही नहीं जान पाते। अतः हम अनेक प्रकार के प्रभावों में आबद्ध रहते हैं।

यह तो सभी को मान्य होगा कि कर्तृत्वकाल में भोग हो सकता है, देखना नहीं; क्योंकि जब हम कुछ करते है, तब देखते नहीं और जब देखते हैं, तब करते नहीं। इस दृष्टि से विषयों के उपभोगकाल में विषयों को देख नहीं पाते और जब विषयों को देखते हैं, तब उनका उपभोग नहीं कर सकते। अतः देखना तभी सम्भव हो सकता है, जब उपभोगकाल न हो। भोग-प्रवृत्ति भोग का देखना नहीं, अपितु भोग के आरम्भ का सुख और परिणाम का दुःख भोगना है। सुख-दुःख का भोग करते हुए हम जो स्वतः हो रहा है, उसे यथार्थ देख नहीं सकते। अतः जो हो रहा है, उसको देखने के लिए हमें रागरहित दृष्टि की अपेक्षा है, जो विवेकसिद्ध है।

जो हो रहा है, उसके दो रूप दिखाई देते हैं—एक तो सीमित सौन्दर्य और दूसरा प्रत्येक वस्तु आदि का सतत परिवर्तन। वस्तु आदि के सौन्दर्य को देखकर हमें उस अनन्त सौन्दर्य की महिमा का अनुभव स्वतः होने लगता है। जिस प्रकार किसी सुन्दर वाटिका को देखकर वाटिका के माली की स्मृति स्वतः जागृत् होती है, उसी प्रकार प्रत्येक रचना को देखकर संसाररूपी वाटिका के माली की स्मृति जागृत् होती है; क्योंकि किसी की रचना का दर्शन रचयिता की महिमा को प्रकाशित करता है। इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु हमें उस अनन्त की ओर ले जाने में हेतु बन जाती है और हम उसकी रचना देख-देखकर नित-नव प्रसन्नता का अनुभव करने लगते हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक रचना में उस कलाकार का ही दर्शन होने लगता है। ऐसा प्रतीत होने लगता है कि यह सब उस अनन्त की लीला ही है, और कुछ नहीं।

अनन्त की लीला भी अनन्त ही है और उसका दर्शन भी अनन्त है। लीला का बाह्य स्वरूप भले ही सीमित तथा परिवतनशील हो, पर उसके मूल में तो अनन्त नित्य चिन्मय तत्त्व ही विद्यमान है। उनकी अनुपम लीला का दर्शन उनकी चिन्मय दिव्य प्रीति जागृत् करने में समर्थ है। अतः जो हो रहा है, उसका प्रभाव प्रेमी बनाकर प्रेमास्पद से अभिन्न करने में हेतु है।

अब रहा वस्तु आदि मे परिवर्तन के दर्शन का प्रभाव; परिवर्तन का दर्शन होते ही स्वभावतः अविनाशी की जिज्ञासा जागृत होती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों कामनाएँ स्वतः मिटने लगती हैं। कामनाओं

का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है और जिज्ञासा की पूर्ति में ही अमर जीवन निहित है।

जो हो रहा है, उससे तो हमें प्रेम तथा जीवन की ही उपलब्धि होती है। इस दृष्टि से जो हो रहा है, उसमें सभी का हित विद्यमान है। अतः 'होने' में प्रसन्न तथा 'करने' में सावधान रहने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए।

अब यदि कोई यह कहे कि वस्तु आदि के सौन्दर्य को देखकर हमारे जीवन में काम की उत्पत्ति होती है और दु.ख-मृत्यु आदि को देखकर भय उत्पन्न होता है। तो कहना होगा कि हमारे देखने में दोष है। हम सीमित सौन्दर्य देखकर ही उसमें आबद्ध हो जाते हैं और उसका भोग करने लगते हैं, अनन्त और नित्य सौन्दर्य की लालसा को सबल नहीं होते देते। प्रत्येक भोग के परिणाम में भयकर रोग उत्पन्न होता है, जो जिज्ञासा जागृत् करने में हेतु है। पर हम जिज्ञासु न होकर उस रोग-शोक आदि को देखकर खीझने लगते हैं और मन-माना कोई-न-कोई निर्णय कर बैठते हैं कि उस अनन्त की रचना में इतना दु.ख क्यों है!

इतना ही नहीं, कभी-कभी तो यहाँ तक कहने लगते है कि सृष्टि का कोई कर्ता नहीं है, घटनाएँ अकस्मात् हो रही है, मृत्यु-ही-मृत्यु है, जीवन-जसी कोई वस्तु है ही नहीं; जहाँ तक सुख सम्पादित कर सकें, करते रहें। यद्यपि सुख-सम्पादन के परिणाम में दुःख-ही-दुःख भोगते रहते है और खीझते रहते हैं; परन्तु न तो घटनाओं के अर्थों पर विचार करते हैं, न उस कर्ता की कारीगरी को देखते हैं और न अपने को उसका जिज्ञासु अथवा भक्त ही मानते हैं। अपितु भोगी तथा रोगी

बनकर ही जीवित रहते हैं। दुःख तथा मृत्यु के दर्शन से तो हमारे जीवन में अमरत्व तथा आनन्द की लालसा जागृत् होनी चाहिए थी, पर ऐसा नहीं होता। उसका कारण यह है कि हम मनमाना निर्णय कर लेते हैं, जो हमारा अपना ही दोष है। हमारा निर्णय ऐसा ही होता है, जैसे कोई जल-कण सागर के विषय में मनमाना निर्णय कर ले।

प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उस अनन्त जीवन का एक अंशमात्र है। प्रत्येक अंश उससे अभिन्न हो सकता है, जिसका वह अंश है; पर उसके सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं दे सकता। जिस सीमित परिवर्तनशील योग्यता से हम निर्णय देते हैं, वह योग्यता क्या हमारी अपनी वस्तु है? यदि हमारी वस्तु है, तो उसमें परिवतन क्यों है? और उसका विनाश क्यों है? यदि हमारी नहीं है, तो क्या हमने जिससे मिली है, उसकी ओर गतिशील होने का कभी प्रयत्न किया? यदि नहीं किया, तो हमें किसी प्रकार के निर्णय करने का क्या अधिकार है? व्यक्ति मिली हुई योग्यता का सदुपयोग हो कर सकता है; किसी प्रकार का अनर्गल निर्णय देकर खोझना व्यर्थ है।

दुःख उतनी बुरी वस्तु नहीं, जितना हम मान लेते है। दुःख के आधार पर हो हम आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं। जिस प्रकार भूख ही भोजन-प्राप्ति में हेतु है, उसी प्रकार दुःख तथा मृत्यु हो अमरत्व तथा आनन्द की प्राप्ति में हेतु है। पर ऐसा तभी हो सकता है, जब हम दुःख होने पर विचार करें, भयभीत न हों। दुःख हमारे बिना ही बुलाए आया है, हम उसे रोक नहीं सकते। जिसे रोक नहीं सकते और जो अपने-आप आता है, वह किसी ऐसे की देन है, जो अनन्त है।

उस अनन्त की देन में सभी का हित विद्यमान है। उससे भयभीत होना हमारी अपनी भूल है। जिस काल में दुःख पूर्ण जागृत् होता है, उसी काल में सब प्रकार की आसक्तियाँ अपने-आप मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही हम उस अनन्त की महिमा देखने के अधिकारी हो जाते हैं। अथवा यों कहो कि उसकी महिमा का आश्रय लेकर ही उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं। अतः जो कुछ हो रहा है, वह हमें 'नहीं' से 'है' की ओर गतिशील करने में समर्थ है। 'नहीं' का अर्थ अभाव है और 'है' का अर्थ अभाव-का-अभाव। इस दृष्टि से प्रत्येक 'अभाव', अभाव-का-अभाव करने में समर्थ है और प्रत्येक रचना उस अनन्त को लालसा जागृत् करने में हेतु है। अतः जो हो रहा है; उसमें सब कुछ मिल सकता है।

(६)

साधन-तत्त्व

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि कर्तव्य का ज्ञान प्रत्येक कर्ता में निहित है, अर्थात् साधन-तत्त्व साधक में विद्यमान है। जब साधक अपने में विद्यमान साधन-तत्त्व का आदर नहीं करता, तब उसे बाहर से साधन-निर्माण की अपेक्षा होती है। यद्यपि साधन-तत्त्व ही गुरु-तत्त्व है, जो साधक में जन्मसिद्ध है, तथापि इस प्राप्त गुरु-तत्त्व का अनादर करने के कारण किसी अप्राप्त गुरु की अपेक्षा हो जाती है। इसका अर्थ किसी बाह्य गुरु का अनादर नहीं है; अपितु विद्यमान गुरु का अनादर न किया जाए, उसी के लिए यह कहना है कि अपने प्राप्त गुरु का आदर करो।

जो साधक प्राप्त गुरु का आदर करता है, वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर साध्य-तत्त्व को प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अपने प्रति जितनी प्रियता होती है, उससे अधिक किसी अन्य के प्रति नहीं होती और अपनी अनुभूति के प्रति जितना सद्भाव तथा निस्संदेहता होती है, उतनी अन्य के प्रति नहीं होती। इस दृष्टि से अपनी अनुभूति के आधार पर जितनी सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण तथा साधन-परायणता हो सकती है, उतनी किसी अन्य की अनुभूति द्वारा नहीं।

इतना ही नहीं, जिस साधन के समझने की तथा करने

की सामर्थ्य साधक में बीज-रूप से विद्यमान नहीं होती, वह साधन कोई भी किसी भी साधक को न तो समझा सकता है और न उससे करा ही सकता है। जिस प्रकार नेत्र को कोई शब्द नहीं सुना सकता और श्रोत्र को कोई रूप नहीं दिखा सकता, उसी प्रकार जिस साधन की सामर्थ्य साधक में नहीं है, उसको कोई बाह्य गुरु नहीं करा सकता। जिस बीज में उपजने की सामर्थ्य होती है, उसी को पृथ्वी, जल, वायु आदि उपजा सकते हैं। अतः साधक में विद्यमान साधना को ही बाह्य गुरु भी विकसित करने में सहयोग दे सकते हैं।

अपने प्राप्त विवेक के आधार पर यदि साधन निर्माण करना है, तो सर्वप्रथम अपने प्राप्त ज्ञान से अपने दोषों को जानना होगा। जिस ज्ञान से दोषों का ज्ञान होगा, उसी ज्ञान में दोषों के कारण का ज्ञान भी विद्यमान है और उस कारण के निवारण का भी। अपने दोषों को जान लेने में कभी धोखा नहीं हो सकता, अपितु अपने दोषों का ज्ञान जितना अपने को होता है, उतना अन्य को हो ही नहीं सकता; कारण, कि दूसरों के सामने तो हम इन्द्रियों के द्वारा ही दोषों का वर्णन करेंगे। मन में जितनी सामर्थ्य है, उतनी इन्द्रियों में नहीं और बुद्धि में जितनी सामर्थ्य है, उतनी मन में नहीं। अतः बुद्धि की सारी बातें मन में नहीं आ पातीं और मन की सारी बातें इन्द्रियों में नहीं आ पातीं। इसलिए इन्द्रियों के द्वारा प्रकाशित किया जाने वाला दोष पूरा दोष नहीं हो सकता। जब तक दोष का पूरा ज्ञान न हो, तब तक कारण का ज्ञान और उसके निवारण का ज्ञान सम्भव नहीं है। अतः दोष देखने और निवारण करने के लिए साधक को अपने ही ज्ञान को अपना गुरु बना लेना चाहिए।

यह नियम है कि जब प्राणी अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य नहीं पाता अर्थात् दोषी पाता है, तब उसमें एक गहरी वेदना जागृत् होती है, जो दोषों को मिटाने में समर्थ है; कारण, कि दोषों से रस लेने से ही दोष सुरक्षित रहते हैं। जब दोषों से वेदना उत्पन्न होने लगती है, तब वे स्वत: मिट जाते हैं, अथवा यों कहो कि साधक में दोष मिटाने की सामर्थ्य आ जाती है।

इस दृष्टि से अपने दोषों का ज्ञान और उनके होने की वेदना ही निर्दोष होने के साधन हैं। हाँ, यह अवश्य है कि अपने ज्ञान से जो अपना गुण देखेगा, वह साधन-निर्माण नहीं कर सकेगा; क्योंकि गुण देखने से गुणों का अभिमान होगा, जो सभी दोषों का मूल है। अत: प्राप्त गुरु का आदर वही कर सकता है, जो अपना गुण नहीं देखता, अपितु दोष देखता है।

दोष का ज्ञान जिससे होता है, उस ज्ञान का कभी नाश नहीं होता। केवल प्रमादवश साधक प्राप्त ज्ञान का अनादर करने लगता है। ज्ञान का अनादर ज्ञान का अभाव नहीं है, अपितु अल्प ज्ञान है, जो सभी दोषों का मूल है।

साधन-तत्त्व ही गुरुतत्त्व है, जो सर्वदा साधक में विद्यमान है। इस दृष्टि से साधक, साधन और साध्य में जातीय एवं स्वरूप की एकता है; क्योंकि तीनों एक ही धातु से निर्मित हैं; कारण, कि साधन-तत्त्व साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है। अत: साधक 'साधन' होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है। साधक की साधन-तत्त्व से अभिन्नता ही वास्त-

विक गुरु की प्राप्ति है, जो जीवन में एक बार ही होती है और जिसके होते ही गुरु और शिष्य अभिन्न हो जाते हैं। यही वास्तविक गुरु सेवा तथा गुरुभक्ति है।

अब यदि कोई यह कहे कि जब साधन-तत्त्व साधक में विद्यमान है, तब साधक को प्रमाद क्यों हो जाता है? तो कहना होगा कि निज-ज्ञान के अनादर से। निज-ज्ञान का अनादर होता है, बाह्य ज्ञान की आशा तथा विश्वास से। इन्द्रियजन्य ज्ञान बुद्धिजन्य ज्ञान की अपेक्षा बाह्य है और बुद्धिजन्य ज्ञान निज-ज्ञान की अपेक्षा बाह्य है। यदि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का आदर तथा उस पर विश्वास न किया होता, तो किसी प्रकार के राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई होती। यदि राग की उत्पत्ति न होती, तो किसी दोष का जन्म ही नहीं होता।

यदि बुद्धि के ज्ञान से इन्द्रियों के ज्ञान पर अविश्वास कर लिया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग 'वैराग्य' में बदल सकता है; क्योंकि इन्द्रिय-जन्य ज्ञान वस्तु में सत्यता तथा सुन्दरता का दर्शन कराता है, जिससे कि वस्तुओं से राग राग की उत्पत्ति हो जाती है, बुद्धि का ज्ञान उसी वस्तु में मलिनता तथा क्षण भंगुरता का दर्शन कराता है, जो राग को 'वैराग्य' में परिवर्तित करने में समर्थ है। जब राग 'वैराग्य' में बदल जाता है, तब भोग 'योग' में परिणत हो जाता है, अथवा यों कहो कि इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं और मन निःसंकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है, जिसके होते ही बुद्धि सम हो जाती है।

बुद्धि के सम होते ही निज-ज्ञान का प्रकाश बाह्य ज्ञान

को अपने में विलीन कर लेता है। फिर राग-विरागरहित अलौकिक दिव्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है। इस दृष्टि से साधक बाह्य ज्ञान से विमुख होकर निज-ज्ञान का आदर करके सुगमतापूर्वक साधन होकर साध्य से अभिन्न हो सकता है।

साधन-तत्त्व साध्य से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि साध्य तो प्रमाद का प्रकाशक है, नाशक नहीं; किन्तु साधन-तत्त्व प्रमाद को खाकर साधक को साध्य से अभिन्न भी कर देता है; कारण, कि सत् असत् का नाशक नहीं होता, अपितु प्रकाशक होता है, किन्तु सत् की लालसा असत् को खाकर सत् से अभिन्न कर देती है। इस दृष्टि से गुरु-तत्त्व साध्य-तत्त्व से भी अधिक महत्त्व की वस्तु है।

यदि किसी कारणवश साधक अपने इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धि-ज्ञान द्वारा विजयी न हो सके तो ऐसी दशा में साधकों को परस्पर मिलकर साधन-निर्माण के लिए विचार-विनिमय करना चाहिए। जिस प्रकार दो दीपक एक दूसरे के नीचे का अन्धकार मिटाने में समर्थ हैं; उसी प्रकार पारस्परिक विचार-विनिमय द्वारा सुगमतापूर्वक साधन-निर्माण हो सकता है। यह तभी सम्भव होगा, जब परस्पर में श्रद्धा, विश्वास तथा स्नेह की एकता हो और निस्संकोच होकर अपनी दशा एक दूसरे से कह सकें। इसी का नाम 'बाह्य सत्संग' है।

अब यदि कोई यह कहे कि हमें तो ऐसे साथी ही नहीं मिलते कि जिनके साथ विचार-विनिमय कर सकें। ऐसी दशा में जिस किसी सद्ग्रन्थ पर अपना विश्वास हो, उसके प्रकाश

में अपने दोष देखें और निवारण के लिए साधन का निर्माण करें। यदि किसी सद्ग्रन्थ पर भी विश्वास न हो, तो केवल साधन-निर्माण की तीव्र लालसा जागृत करें। ज्यों-ज्यों लालसा सबल तथा स्थाई होती जाएगी, त्यों-त्यों साधन-निर्माण की योग्यता अथवा अनुकूल परिस्थिति उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त होती जाएगी; क्योंकि कर्तव्य-ज्ञान के लिए विवेक के स्वरूप में जिसने गुरु प्रदान किया है, वही सत्संग एवं सद्ग्रन्थ के स्वरूप में भी गुरु प्रदान कर सकता है।

गुरु की प्राप्ति में एकमात्र गुरु की आवश्यकता ही हेतु है। अतः गुरु की आवश्यकता गुरु से मिला देती है, यह निर्विवाद सत्य है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निर्माण करके उस साध्य से अभिन्न होने में सर्वदा स्वतन्त्र है, जो वास्तविक जीवन है।

(७)

वर्तमान जीवन का सदुपयोग

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान परिवर्तनशील जीवन के सदुपयोग में ही नित्य जीवन और दुरुपयोग में ही मृत्यु निहित है। यद्यपि जन्म और मृत्यु दोनों एक ही परिवर्तनशील जीवन की दो अवस्थाएँ हैं, क्योंकि जन्म से ही मृत्यु आरम्भ हो जाती है और मृत्यु के अन्त में जन्म स्वाभाविक है। परन्तु यदि वर्तमान जीवन को साधन-युक्त बना दिया जाए, तो मृत्यु से पूर्व ही अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान जीवन का सदुपयोग क्या है ? तो कहना होगा कि अपने-आप आए हुए सुख-दुःख का सदुपयोग ही वर्तमान जीवन का सदुपयोग है। सुख का सदुपयोग उदारता में और दुःख का विरक्त होने में निहित है। उदारता सुख-भोग की आसक्ति को और विरक्ति सुख-भोग की कामना को खा लेती है।

उदारता का अर्थ दूसरों के दुःख से दुःखी होकर प्राप्त सुख का सद्व्यय करना है और विरक्ति का अर्थ इन्द्रियों के विषयों से अरुचिका जागृत् होना है। विषयों की अरुचि अमरत्व की जिज्ञासा जागृत् करती है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा सबल और स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों भोगेच्छाएँ स्वतः जिज्ञासा

में विलीन होती जाती हैं। जिस काल में भोगेच्छाओं का सर्वांश में अन्त हो जाता है, उसी काल में जिज्ञासा स्वतः पूरी हो जाती है, अर्थात् अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

जीवन का सदुपयोग तभी हो सकता है, जब वर्तमान जीवन में ही अर्थात् प्राणों के रहते हुए ही मृत्यु का अनुभव हो जाए। यह तभी सम्भव होगा, जब निज-विवेक के प्रकाश में परिवर्तनशील जीवन का अध्ययन किया जाए। यह सभी को मान्य होगा कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था और परिस्थिति निरन्तर बदल रही है; उसमें स्थायित्व मानना निज-विवेक का अनादर है। जिसे साधारण दृष्टि से स्थिति कहते हैं, वह वास्तव में परिवर्तन का क्रम है, और कुछ नहीं; अथवा यों कहो कि समस्त वस्तुएँ अमरत्व की ओर दौड़ रही हैं, क्योंकि परिवर्तन के ज्ञान में ही अपरिवर्तन की लालसा विद्यमान है। उस लालसा की पूर्ति वर्तमान में हो सकती है, क्योंकि जो उत्पत्ति विनाश-रहित है, उससे देश-काल की दूरी नहीं है और जिससे देश-काल की दूरी नहीं है, वह वर्तमान में ही प्राप्त हो सकता है।

परिवर्तनशील जीवन की आशा में आबद्ध प्राणी न तो वर्तमान जीवन का सदुपयोग कर पाता है, न अमरत्व से अभिन्न हो सकता है और न मृत्यु से ही बच सकता है। अतः परिवर्तनशील जीवन से निराश होकर साधक को वर्तमान जीवन का सदुपयोग करने तथा अमरत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए, क्योंकि अमरत्व से जातीय तथा स्वरूप की एकता है। जिससे स्वरूप की एकता है, उसकी

प्राप्ति अनिवार्य है। जिसकी प्राप्ति अनिवार्य है, उससे निराश होना प्रमाद है और जिसमें सतत परिवर्तन है, उसकी आशा करना भूल है।

परिवर्तनशील जीवन से निराश होते ही जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो जाता है। साधक सब ओर से विमुख होकर अपने ही में अपने वास्तविक जीवन से अभिन्न हो, अमर हो जाता है। फिर शरीर आदि प्रत्येक वस्तु अपने से स्पष्ट अलग अनुभव होती है। इतना ही नहीं, कर्म, चिन्तन, स्थिति आदि सभी अवस्थाओं से असंगता हो जाती है और जड़ता का अन्त हो जाता है, अथवा यों कहो कि दिव्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

उत्पत्ति-विनाश का तो एक क्रम है, जो धीरे-धीरे होता रहता है; परन्तु अमरत्व से अभिन्नता वर्तमान ही में हो जाती है; क्योंकि वह सर्वकाल में ज्यों-का-त्यों है अथवा यों कहो कि काल से अतीत है। जीवन ही में मृत्यु का अनुभव और अमरत्व की प्राप्ति युगपत होती है; पर जीवन ही में मृत्यु का अनुभव तब हो सकता है, जब शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी से सम्बन्ध-विच्छेद कर दिया जाए, जो विवेकसिद्ध है। विवेक अभ्यास नहीं है, अपितु निज-ज्ञान का आदर है। इस कारण वर्तमान में ही फल देता है।

अब यदि कोई यह कहे कि शरीर आदि से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर क्या वर्तमान कार्य हो सकेगा? तो कहना होगा कि सम्बन्ध-विच्छेद होने पर ही कार्य सुन्दरतापूर्वक हो सकता है; क्योंकि सम्बन्ध-विच्छेद होने से अनासक्ति आ जाती है, जो सभी दोषों को खा लेती है, अथवा यों कहो कि इससे

इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी शुद्ध हो जाते हैं। इनके शुद्ध होने से समस्त व्यवहार पवित्र तथा सुन्दर होने लगते हैं, क्योंकि अशुद्धि ही कर्तव्य में दोष उत्पन्न करती है। शुद्धि तो कर्तव्यनिष्ठ बनाती है। इस दृष्टि से अमरत्व की प्राप्ति तथा वर्तमान जीवन का सदुपयोग, ये दोनों जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने में निहित हैं।

अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि जीवन में ही मृत्यु का अनुभव कैसे किया जाए? तो इस समस्या को हल करने के लिए साधक को सर्वप्रथम जीवन और मृत्यु के स्वरूप को जानना होगा। वर्तमान जीवन क्या है? जीवन-शक्ति, प्राण और इच्छाओं का समूह। मृत्यु क्या है? प्राण-शक्ति का व्यय हो जाना और इच्छाओं का शेष रह जाना। जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करने के लिए साधक को प्राणों के रहते हुए ही इच्छाओं का अन्त करना होगा।

इच्छाओं का अन्त होते ही देहाभिमान गल जाता है। फिर सभी अवस्थाओं से अतीत जो सभी अवस्थाओं का प्रकाशक है, उस स्वयं प्रकाश नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है; अथवा यों कहो कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को उसके समर्पित कर देना है, जो सर्व का प्रकाशक है, जिससे सभी सत्ता पाते हैं, जो सभी का सब कुछ है और सबसे अतीत भी है। उसका सम्बन्ध, उसकी जिज्ञासा तथा उसकी स्मृति और प्रीति के उदय होने पर ही जीवन में मृत्यु का अनुभव हो सकता है; क्योंकि उसका सम्बन्ध अन्य सम्बन्धों को खा लेता है, उसकी जिज्ञासा भोगेच्छाओं को भस्म कर देती है, उसकी स्मृति अन्य की विस्मृति कराने में समर्थ है और उसकी प्रीति

उससे दूरी तथा भेद मिटाने में हेतु है, अथवा यों कहो कि अनन्त की प्रीति अनन्त से अभिन्न कर देती है।

जीवन में ही मृत्यु का अनुभव किये बिना कोई भी योगी, विवेकी और प्रेमी नहीं हो सकता, क्योंकि योगी होने के लिए भोग-वासनाओं का अन्त करना होगा और भोग-वासनाओं का अन्त करने के लिए अपने को तीनों शरीरों से अलग अनुभव करना होगा। इस दृष्टि से योग की सिद्धि के लिए भी जीवन में ही मृत्यु का अनुभव अनिवार्य है। विवेकी होने के लिए भी साधक को समस्त दृश्य से अपने को विमुख करना है, अर्थात् दृष्टि को दृश्य से विमुख कर अमरत्व से अभिन्न करना है। अत: उसके लिए भी निराधार होकर जीवन ही में मृत्यु स्वीकार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार प्रेमी होने के लिए भी जीते-जी ही मरना होगा, क्योंकि प्रेमी वही हो सकता है, जो सब प्रकार की चाह से रहित हो और अपना सर्वस्व अपने प्रेमास्पद को बिना किसी शर्त के समर्पित कर दे।

अब यदि कोई यह कहे कि योगी, विवेकी और प्रेमी होने के लिए तो जीते-जी मरने की बात है, पर समाज-सेवा के लिए तो जीवन में मृत्यु का अनुभव आवश्यक नहीं है। तो कहना होगा कि वास्तविक सेवा के लिए भी जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना होगा, क्योंकि सेवा त्याग की भूमि तथा प्रेम की जननी है। सेवा वही कर सकेगा, जो अपने सेव्य के मन की बात पूरी कर सके और उसके बदले में किसी प्रकार की आशा न करे। दूसरे के मन की बात पूरी करने में अपने मन को दे देना होगा। अत: जीते-जी बिना मरे सेवा

की भी सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि अपने पास अपने मन का न रहना ही जीते-जी मरना है। जब तक अपने पास अपना मन रहता है, तब तक मृत्यु में जीवन प्रतीत होता है और जब अपने पास अपना मन नहीं रहता, तब जीवन में ही मृत्यु का अनुभव होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि अपने पास अपना मन न रहे, इसके लिए साधक को क्या करना है ? तो कहना होगा कि साधक का जिनसे सम्बन्ध है, उनके मन से अपना मन मिला देना चाहिए, पर उसी अंश में जिस अंश में उनका हित हो।

यदि असमर्थता के कारण साधक दूसरों के मन की बात पूरी न कर सके, तो उसे नम्रतापूर्वक दुःखी हृदय से क्षमा माँग लेनी चाहिए। ऐसा करने से भी साधक का मन साधक के समीप न रहेगा, क्योंकि किसी के मन की बात पूरी करना अथवा मन की बात पूरी न करने के दुःख से दुःखी होना समान अर्थ रखता है। अतः योगी, विवेकी, प्रेमी और सेवक होने के लिए जीवन में ही मृत्यु का अनुभव करना है। योग से सामर्थ्य, विवेक से अमरत्व और प्रेम से अगाध अनन्त रस की उपलब्धि सुगमतापूर्वक हो सकती है, जो वास्तविक जीवन है।

(८)

साधन करने में कोई असमर्थ नहीं है

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधन करने में न तो असमर्थता है और न असिद्धि; क्योंकि साधन साधक की वर्तमान योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य पर निर्भर है। अथवा यों कहो कि प्राप्त बल के सदुपयोग एवं विवेक के आदर में ही साधन निहित है। साधन करने के लिए किसी अप्राप्त बल, वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा नहीं है और न उस ज्ञान को आवश्यकता है, जो अपने में नहीं है, अपितु जो है, उसी से साधन करना है।

यह नियम है कि सामर्थ्य की न्यूनता तथा अधिकता साधन में कोई अर्थ नहीं रखती। जिस प्रकार पथिक यदि अपनी ही गति से अपने मार्ग पर चलता रहे, तो अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच ही जाता है, उसी प्रकार प्रत्येक साधक यदि अपनी योग्यता, रुचि तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधननिष्ठ हो जाए, तो सिद्धि अवश्यम्भावी है। इसमें संदेह के लिए कोई स्थान ही नहीं है, क्योंकि किसी भी साधक को वह नहीं करना है, जिसे वह नहीं कर सकता, परन्तु वह अवश्य करना है, जिसे वह कर सकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि जब साधन में असमर्थता और असिद्धि नहीं है, तब हम साधनपरायण क्यों नहीं हो

पाते और हमें साध्य की उपलब्धि क्यों नहीं होती ? तो कहना होगा कि इस प्रश्न का उत्तर प्रत्येक साधक को स्वयं ही देना है, किसी अन्य से नहीं लेना है; क्योंकि जो जानते हुए भी नहीं मानता और करने की सामर्थ्य होते हुए भी नहीं करता, उसे न कोई जना सकता है और न कोई उससे करा सकता है।

जिस प्रकार सोये हुए को जगाया जा सकता है, पर होगा जो जगते हुए सो रहा है, उसे कोई नहीं जगा सकता; उसी प्रकार जो अपनी जानकारी का स्वयं आदर नहीं करता और प्राप्त बल का सदुपयोग नहीं करता, उसकी कोई भी सहायता नहीं कर सकता। क्योंकि प्राकृतिक नियम के अनुसार विवेक के अनादर से अविवेक की और बल के दुरुपयोग से निर्बलता की ही वृद्धि होती है। ज्यों-ज्यों प्राणी विवेक का अनादर तथा बल का दुरुपयोग करता जाता है, त्यों-त्यों विवेक में धुँधलापन और निर्बलता उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। यहाँ तक कि एक दिन विवेकयुक्त जीवन छिन्न-भिन्न हो जाता है और प्राणी साधन करने के योग्य नहीं रहता।

साधक जो साधन कर सकते हैं, उसका न करना ही असाधन है। इसके अतिरिक्त असाधन-जैसी कोई वस्तु नहीं है। अब विचार यह करना है कि ऐसा क्यों होता है ? तो कहना होगा कि साधक ने निज-विवेक के प्रकाश में प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करने का प्रयत्न नहीं किया। यह दोष साधक का अपना बनाया हुआ है, प्राकृतिक नहीं। सभी साधकों का उद्देश्य एक हो सकता है, पर साधन एक नहीं हो सकता। सभी साधकों में प्रीति की एकता हो सकती है,

पर कर्म की नहीं। हाँ, यह हो सकता है कि अपने साधन का अनुसरण हो और अन्य के साधन का आदर हो।

जिस प्रकार कोई भी औषधि बड़ी या छोटी, ऊँची या नीची तथा भली या बुरी नहीं होती, अपितु जिस रोग की जो औषधि है, वह उसी के लिए उपयुक्त होती है, उसी प्रकार साधक की रुचि, योग्यता, विश्वास तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधना ही साधक को सिद्धि प्रदान करने में समर्थ है। कभी भी दो रोगी परस्पर में संघर्ष नहीं करते कि तुम हमारी औषधि खाओ, तभी नीरोग हो सकते हो; चाहे वे किसी एक ही चिकित्सक से चिकित्सा क्यों न करा रहे हों। यह सम्भव है कि दो रोगियों को समान रोग हो, पर यह कभी सम्भव नहीं है कि दो व्यक्ति सर्वांश में समान रुचि, योग्यता तथा सामर्थ्य के हों। हाँ, आंशिक एकता दो साधकों में हो सकती है और उद्देश्य की एकता सभी साधकों में हो सकती है। इसी कारण प्रीति तथा लक्ष्य की एकता और साधन की भिन्नता अनिवार्य है।

यदि रोगी अपने चिकित्सक अथवा औषधि की प्रशंसा करता रहे; किन्तु न तो चिकित्सक की आज्ञा का पालन करे और न विधिवत् औषधि का सेवन ही करे तथा कुपथ्य का त्याग और सुपथ्य को ग्रहण भी न करे, तो क्या वह नीरोग हो सकता है? कदापि नहीं। उसी प्रकार जो साधक अपने साधन की, अपने आचार्य की, अपने नेता की तथा अपने पैगम्बर की प्रशंसा तो करे, पर साधन को अपना जीवन न बनाए, तो क्या उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है? कदापि नहीं।

जो साधन साधक को रुचिकर होता है और जिसके प्रति किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता, वह साधक का जीवन बन जाता है, जो सफलता का हेतु है। पर ऐसे साधन का निर्माण तभी हो सकता है, जब साधक अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुरूप साधन स्वीकार करे। कोई भी साधक किसी भी परिस्थिति में यह नहीं कह सकता कि हम साधन नहीं कर सकते, क्योंकि परिस्थिति के अनुरूप ही साधन का निर्माण होता है। अतः प्रत्येक साधक को किसी-न-किसी साधना के सम्बन्ध में यह स्वीकार करना ही होगा कि हम कर सकते हैं। यह नियम है कि साधक पूरी शक्ति लगाकर जो साधन कर सकता है, उसी में सिद्धि निहित है। अतः साधक के जीवन में साधन में असमर्थता और असफलता के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

यदि कोई साधक साधन निर्माण करने में असमर्थता अनुभव करता हो, पर उसे साधन करने की रुचि हो, तब भी साधन का निर्माण हो सकता है और सिद्धि मिल सकती है; क्योंकि यह नियम है कि चाहकी अपूर्ति में स्वभाव से ही वेदना जागृत् हो जाती है। जिस प्रकार तृषित प्राणी की जल की चाह न तो मिटाने से मिटती है, न घटती है, अपितु उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है; जब तक जल नहीं मिल जाता, तब तक किसी भी प्रकार से उसे चैन से नहीं रहने देती; उसी प्रकार साधन करने की चाह साधक को उस समय तक चैन से नहीं रहने देगी, जब तक साधन का निर्माण नहीं हो जाएगा।

जैसे, कोई भी प्रलोभन तथा भय तृषावान् की तृषा

को, जब तक उसका अस्तित्व है, मिटा नहीं सकता, अर्थात् जल के मिलने पर ही उसकी तृषा शान्त होती है, उससे पूर्व नहीं; उसी प्रकार साधन की तीव्र लालसा तब तक किसी प्रकार मिटती नहीं, जब तक साधन-निर्माण तथा साधन-निष्ठा प्राप्त नहीं हो जाती। इस दृष्टि से भी यह सिद्ध होता है कि साधक साधन-निर्माण में और साधननिष्ठ होने में स्वाधीन है।

साधक को दो ही बातों पर ध्यान देना है—एक तो यह कि वह जो कर सकता है, उसे कर डाले और निश्चिन्त हो जाए; दूसरी यह कि साधन न होने की गहरी वेदना जागृत् हो जाए। निश्चिन्तता निर्भयता को और निर्भयता प्रसन्नता को जन्म देती है। प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है और खिन्नता के मिटते ही कामनाओं का अन्त हो जाता है। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। यह नियम है कि वर्तमान की वेदना भविष्य की उपलब्धि होती है। इस प्रकार वेदना से भी साधक को सफलता हो सकती है। अतः साधक के जीवन में निराशा के लिए कोई स्थान ही नहीं है। साधक जो कर सकता है, उसको जब नहीं करता और साधन न होने का दुःख भी उसे नहीं होता, तब समझना चाहिए कि यही उसके जीवन का सबसे काला समय है, जिसे उसने स्वयं ही बनाया है।

साध्य का यह स्वभाव है कि जो साधक प्राप्त सामर्थ्य का उपयोग करता है, उसे तो वह आवश्यक सामर्थ्य तब तक बिना ही माँगे देता रहता है, जब तक कि साधक साध्य से अभिन्न नहीं हो जाता। एवं जो साधक प्राप्त सामर्थ्य का उप-

योग न करने के दुःख से दुखी होकर अपने को साध्य के समर्पित कर देता है, उसे साध्य की कृपा शक्ति स्वतः साध्य से अभिन्न कर देती है। अतः दोनों दशाओं में साध्य स्वयं साधक को अपना लेता है, यह साध्य की महिमा है। इस महिमा को कोई जाने अथवा न जाने, माने अथवा न माने, साध्य की कृपाशक्ति तो अपना कार्य करती ही रहती है।

साधनयुक्त जीवन में विलक्षणता यह है कि साधक की अल्प सामर्थ्य के आधार पर साधन निर्माण हो अथवा किसी विशेष सामर्थ्य के आधार पर, साध्य की प्राप्ति सभी साधकों को समान होती है; क्योंकि साधक, साधन और साध्य—इन तीनों में जातीय तथा स्वरूप की एकता है। अतः साधनयुक्त जीवन में सिद्धि निहित है, यह निर्विवाद सत्य है।

(६)

वर्तमान का आदर ही साधन है

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक साधक को जो मिला है, उसी में उसका हित निहित है; क्योंकि प्राकृतिक न्याय प्रेम तथा उदारता से पूर्ण है। इस दृष्टि से प्राप्त परिस्थिति का आदरपूर्वक सदुपयोग करना ही विकास का मूल है। हाँ, यह अवश्य है कि वर्तमान का आदर करना है, उसकी दासता में आबद्ध नहीं होना है। अप्राप्त परिस्थिति के चिन्तन का त्याग वर्तमान परिस्थिति के आदर में निहित है। जब साधक वर्तमान का आदरपूर्वक सदुपयोग करने लगता है और अप्राप्त वस्तु तथा व्यक्ति आदि का चिन्तन नहीं करता, तब बड़ी ही सुगमता से सब प्रकार की चाह और चिन्तन से रहित हो जाता है। चाह और चिन्तन से रहित होते ही चिरशान्ति स्वतः प्राप्त होती है, जिसमें अनन्त सामर्थ्य निहित है।

अतः साधक के जीवन में असमर्थता और प्रतिकूलता-जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। वर्तमान का अनादर और दुरुपयोग ही साधक को सफल नहीं होने देता, जो साधक का अपना बनाया हुआ दोष है। यह नियम है कि अपने बनाए हुए दोष के त्याग में साधक सर्वदा स्वाधीन है, पर जब तक साधक दोष-जनित सुख का उपभोग करता रहता है अथवा

दोष को दोष जान लेने पर भी दुःखी नहीं होता, तब तक दोष का त्याग नहीं हो पाता। दोष का त्याग न कर सकने की जो निर्बलता है, वह प्राकृतिक नहीं है। उसे तो साधक ने अपनी असावधानी से ही उत्पन्न किया है। अतः वह सावधानी-पूर्वक मिटाई जा सकती है।

जिस ज्ञान से हमें दूसरों के कर्तव्य का ज्ञान होता है, क्या उससे हम अपना कर्तव्य नहीं जान सकते? अवश्य जान सकते हैं। क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसे अपने अधिकार और दूसरों के कर्तव्य का ज्ञान न हो? क्या कोई ऐसा व्यक्ति है, जो अपने प्रति दूसरों से बुराई कराने की आशा करता हो? कोई भी नहीं। जिसे अपने अधिकार का ज्ञान है, उसे दूसरों के अधिकार का ज्ञान स्वभाव से ही होना चाहिए; क्योंकि ज्ञान तो नित्य-प्रकाश है। वह तो सभी को वास्तविकता का दर्शन कराता है। दूसरे का अधिकार ही तो अपना कर्तव्य है। अतः अपने कर्तव्य का ज्ञान साधक को स्वभावसिद्ध है। साधक कर्तव्यनिष्ठ हो, अथवा न हो, पर कर्तव्य का ज्ञान उसमें अवश्य निहित है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि कर्तव्य का ज्ञान होने पर भी कर्तव्यपरायणता क्यों नहीं आती? तो कहना होगा कि प्रत्येक साधक में ज्ञान के दो स्थल हैं—बुद्धि और इन्द्रिय। उन दोनों के बीच में मन देवता का निवास है। अब देखना यह है कि मन देवता पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है या बुद्धि के ज्ञान का अथवा आंशिक रूप से दोनों का? जिन प्राणियों के मन पर केवल इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव है,

उनमें तो कर्तव्य का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता और जिनके मन पर केवल बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव है, वे स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ होते हैं।

कर्तव्यपरायणता का प्रश्न उन्हीं प्राणियों के सामने आता है, जिनके मन पर बुद्धि और इन्द्रियाँ दोनों के ज्ञान का प्रभाव हो। इन्द्रियों का ज्ञान सुख-भोग की ओर तथा बुद्धि का ज्ञान उसके परिणाम की ओर प्राणी को आकर्षित करता है।

यदि बुद्धि का ज्ञान सबल हो जाए और इन्द्रिय-ज्ञान के प्रभाव को खा जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधक में कर्तव्यपरायणता आ सकती है। हम जानते हुए नहीं मान पाते और मानते हुए नहीं कर पाते; इसका एकमात्र कारण है, मन में इन्द्रिय तथा बुद्धि के ज्ञान का द्वन्द्व। उस द्वन्द्व का अन्त करने के लिए साधकों को श्रद्धा तथा विश्वासपूर्वक परस्पर विचार-विनिमय करना चाहिए।

जब बुद्धि अपने प्रकाशक में, मन बुद्धि में और इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं, तब साधक को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब मन के सभी संकल्प विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हों, अर्थात् अविवेक से उत्पन्न हुए संकल्प मिट जाएँ। अशुद्ध संकल्पों का त्याग ही साधन की सर्वप्रथम भूमि है। शुद्ध संकल्पों की पूर्ति साधन की दूसरी भूमि और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख में आबद्ध न होना साधन की तीसरी भूमि है। निःसंकल्पतापूर्वक मन का बुद्धि में विलीन हो जाना साधन की चतुर्थ भूमि है और बुद्धि का सम होकर चिर-शान्ति में निवास करना पाँचवीं भूमि है।

इस दृष्टि से साधन की प्रगति पाँच भिन्न स्थलों में-से होती है अथवा अपनी योग्यता के अनुसार साधक इन पाँच स्थलों में-से किसी भी एक स्थल से साधन का आरम्भ कर सकता है। यह नियम है कि साधन चाहे किसी भी स्थल से आरम्भ किया जाए, एक स्थल की पूर्णता दूसरे स्थल में प्रवेश कराने में स्वतः हेतु हो जाती है। इस दृष्टि से साधन का आरम्भ होने पर साधक किसी भी कोटि का हो, सिद्धि का होना अनिवार्य है।

समस्त साधन दो भागों में विभाजित हैं—एक तो विचारपूर्वक शरीर और विश्व के स्वरूप को जानना, दूसरा विश्वासपूर्वक विश्व के प्रकाशक को मानना। जिसने विश्व के स्वरूप को जान लिया, वह स्वभाव से ही जिज्ञासु हो जाता है और जिसने विश्व के प्रकाशक को मान लिया, वह भक्त हो जाता है।

जिज्ञासु अपने जाने हुए दोष के त्याग में समर्थ है और भक्त अपने को समर्पित करने में समर्थ है।

जो जिज्ञासु अपने जाने हुए दोष का त्याग नहीं कर सकता और जो भक्त अपने को समर्पित नहीं कर सकता, वे दोनों ही साधन में सफल नहीं हो पाते। दोनों प्रकार के साधकों का लक्ष्य एक है, पर साधना में भेद है, क्योंकि जिज्ञासु प्रथम जानता है, फिर मानता है, और भक्त प्रथम मानता है, फिर जानता है। जानने में मानना और मानने में जानना निहित है। साधक वह नहीं हो सकता, जो न तो

जाने हुए का आदर करता है और न माने हुए पर दृढ़ ही रहता है।

अनुभूति और विकल्परहित विश्वास का नाश नहीं होता। अन्तर केवल इतना है कि अनुभूति के आधार पर अपने पर विश्वास होता है और विश्वास के आधार पर उस पर विश्वास होता है, जो समस्त विश्व का पति है।

विश्वास की साधना के भी पाँच स्थल हैं—प्रथम स्वीकृति, दूसरा विश्वास, तीसरा सम्बन्ध, चौथा स्मृति और पाँचवाँ प्रीति।

अब यदि कोई यह कहे कि स्वीकृति और विश्वास आदि में भेद क्या है? तो कहना होगा कि, 'विश्व का कोई प्रकाशक है', ऐसा मान लेना स्वीकृति है। 'उस पर मुझे विश्वास है', यह मान लेना विश्वास है। 'उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है', अर्थात् 'वह मेरा है और मैं उसका हूँ', ऐसा सर्वदा मानना सम्बन्ध है। 'उसके बिना मैं नहीं रह सकता', यह स्मृति है और 'उससे मेरी अत्यन्त आत्मीयता है', ऐसा अनुभव करना प्रीति है। साधन का आरम्भ स्वीकृति से होता है और उसकी परावधि प्रीति में होती है। ऐसा होने पर साधक स्वतः अपने प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, क्योंकि प्रीति किसी प्रकार का भेद तथा दूरी नहीं रहने देती। इतना ही नहीं, प्रीति प्रेमास्पद को प्रेमी बनाने में भी समर्थ है।

यह नियम है कि अनुभव तथा मधुर स्मृति और सम्बन्ध कभी नष्ट नहीं होते। अतः एक बार का सम्बन्ध और स्मृति भी साधक को साध्य से मिलाने में समर्थ है। फिर जिनको

स्मृति अखण्ड है, उन्हें वर्तमान में ही प्रेमास्पद की प्राप्ति हो जाए, इसमें तो सन्देह ही क्या है ? जिनका समस्त जीवन नित्य-ज्ञान से प्रकाशित है, वे तो वर्तमान में ही तत्त्वज्ञ हैं। इस दृष्टि से साधक चाहे जिज्ञासु हो अथवा भक्त, दोनों ही अपने-अपने साधन द्वारा साध्य से अभिन्न हो सकते हैं।

जिज्ञासुओं के द्वारा निर्दोषता और भक्तों के द्वारा प्रीति का प्रसार स्वतः वैसे ही होता रहता है, जैसे पुष्पों से सुगन्ध स्वतः फैलती है। अतः साधक भक्त अथवा जिज्ञासु होकर वर्तमाम का आदरपूर्वक सदुपयोग करते हुए अपने उस साध्य से अभिन्न हो सकते हैं, जो वास्तविक जीवन है।

(१०)

स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि हमारे सामने दो समस्याएँ उपस्थित हैं—एक तो वर्तमान का सदुपयोग करने की और दूसरी, स्वाभाविक आवश्यकता को पूर्ण करने की; क्योंकि वर्तमान के सदुपयोग में ही कर्तव्य निहित है और कर्तव्यनिष्ठा से ही राग की निवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति में ही स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति निहित है। अतः रागरहित होकर स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में ही जीवन की सार्थकता है।

अब विचार यह करना है कि स्वाभाविक आवश्यकता क्या है? तो कहना होगा कि स्वाभाविक आवश्यकता उसी की हो सकती है, जिससे जातीय और स्वरूप की एकता हो। जातीय और स्वरूप की एकता किससे है? इसका ज्ञान तभी हो सकता है, जब मानी हुई एकता का त्याग कर दिया जाए। मानी हुई एकता का त्याग करने के लिए हमें उन सभी के अधिकारों की रक्षा करनी होगी, जिनसे हमने एकता स्वीकार की है। साथ ही हमें अपने अधिकारों का भी त्याग करना होगा। ऐसा करते ही मानी हुई एकता मिट जाएगी, जिसके मिटते ही कामनाओं का अन्त हो जाएगा। कामनाओं के अन्त में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है और जिज्ञासा की पूर्ति में

प्रेम की प्राप्ति स्वत: सिद्ध है। यही वास्तव में प्राणी की स्वाभाविक आवश्यकता है।

जिज्ञासा की पूर्ति साधक को अनित्य जीवन से मुक्त करके नित्य-जीवन से अभिन्न करती है। अथवा यों कहो कि क्रियाशीलता, चिन्तन, स्थिति आदि अवस्थाओं से असङ्ग कर देती है। अवस्थाओं से अतीत के जीवन में न तो किसी प्रकार का श्रम है, न अभाव है और न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा ही है; केवल अनन्त दिव्य चिन्मय जीवन है और उसी चिन्मय जीवन में प्रेम की प्राप्ति होती है। प्रेम-जैसा अलौकिक तत्त्व सभी को अभीष्ट है। उससे किसी की कभी भी तृप्ति नहीं होती, अपितु नित-नव उत्कण्ठा ही जागृत रहती है तथा प्रेम के आदान-प्रदान में कभी प्रेम की क्षति तो होती ही नहीं, अपितु नित-नव वृद्धि ही होती रहती है।

उस अलौकिक प्रेम-प्राप्ति के लिए साधक को वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग द्वारा अपने को रागरहित करना होगा। यह तभी सम्भव है, जब अपने जीवन को समाज के अधिकार का समूह बना दिया जाए, अर्थात् व्यक्ति समाज का ऋणी न रहे और उसकी प्रसन्नता किसी वस्तु, व्यक्ति आदि पर निर्भर न रहे, तभी वह पूर्णरूप से वर्तमान का सदुपयोग कर सकता है, जो साधक का परम पुरुषार्थ है।

वर्तमान के सदुपयोग में इस बात का सदैव ध्यान रखना है कि अपने प्रति न्याय हो और अन्य के प्रति क्षमायुक्त व्यवहार हो। न्याय प्राणी को निर्दोष और क्षमा निर्वैर बनाती है। निर्दोषता से निरभिमानता और निर्वैरता से

एकता स्वतः आ जाती है, क्योंकि किसी-न-किसी अभिमान के आधार पर ही दोष जीवित रहता है और वैरभाव के आधार पर ही भिन्नता बनी रहती है। भिन्नता और अभिमान के रहते हुए वर्तमान का सदुपयोग सम्भव नहीं है और वर्तमान के सदुपयोग के बिना साधक वीतराग नहीं हो सकता। वीतराग हुए बिना न तो चिर-शान्ति ही मिल सकती है और न प्रेम का ही उदय हो सकता है।

यद्यपि प्रेम का अंकुर बीजरूप से सभी में विद्यमान है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति उन्हीं के जीवन में होती है, जो कामना-रहित होकर सभी से आत्मीयता प्राप्त कर लेते हैं। भौतिकवाद की दृष्टि से समस्त विश्व एक जीवन है। अतः समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता का भाव आ जाने पर विश्व-प्रेम स्वतः जागृत होता है। समस्त विश्व बुद्धि के किसी अंश में है, क्योंकि जो वस्तु जिसका विषय होती है, वह उसी के अन्तर्गत होती है। इस दृष्टि से बुद्धि जिसको विषय करती है, वह बुद्धि के ही किसी अंश में है। कामना-रहित होते ही बुद्धि सम हो जाती है; फिर समस्त विश्व के प्रति आत्मीयता का अनुभव हो जाता है; वह विश्व-प्रेम की अभिव्यक्ति में हेतु है, क्योंकि बुद्धि के सम होते ही अनेकता एकता में विलीन होती जाती है और जब तक बुद्धि सम नहीं होती, तब तक एकता में अनेकता का दर्शन होता रहता है।

बुद्धि सम तब तक नहीं होती, जब तक मन निर्विकल्प नहीं होता, मन निर्विकल्प तब तक नहीं होता, जब तक जितेन्द्रियता प्राप्त नहीं होती तथा जितेन्द्रियता तब तक प्राप्त नहीं होती, जब तक शरीर की वास्तविकता का ज्ञान नहीं

होता और स्वार्थभाव गल नहीं जाता अर्थात् सेवाभाव की उत्पत्ति नहीं होती।

शरीर की क्षणभंगुरता का ज्ञान, स्वार्थभाव का गल जाना तथा सेवाभाव की उत्पत्ति—विश्व-प्रेम की साधना है। विश्व-प्रेम सुख-भोग की आसक्ति को खाकर उस नित्य-जीवन की जिज्ञासा जागृत करता है, जिसकी पूर्ति स्वतः सिद्ध है। जिज्ञासा की पूर्ति होते ही बुद्धि से अतीत जो नित्य-जीवन है, उससे आत्मीयता हो जाती है और बुद्धि जिसके एक अंश में थी, उस अनन्त से स्वतः प्रेम हो जाता है। अथवा यों कहो कि विश्व-प्रेम विश्व को पार करता हुआ उस अनन्त का प्रेम हो जाता है, जो सबका सब कुछ है; क्योंकि प्रेम-जैसा चिन्मय तत्त्व किसी सीमा में आबद्ध नहीं हो सकता। सीमित प्रेम ही तो मोह है, जो अनेक प्रकार की आसक्तियाँ और संघर्ष उत्पन्न करता है। जब तक प्रेम असीम नहीं होता, तब तक सीमित अहंभाव का नाश नहीं होता अर्थात् निरभिमानता नहीं आती, जब तक निरभिमानता नहीं आती, तब तक भेद का अन्त नहीं होता तथा जब तक भेद का अन्त नहीं होता, तब तक न तो चिर-शान्ति मिल सकती है, न निर्भयता और न दिव्य-चिन्मय प्रेम ही मिल सकता है; क्योंकि आसक्तियों के रहते हुए न तो स्वाधीनता की प्राप्ति हो सकती है और न जीवन की ही।

अतः आसक्तियों का अन्त करने के लिए सीमित प्यार का अन्त करना अनिवार्य है। जब तक प्रेम अनन्त नहीं हो जाता, तब तक मोह तथा अभिमान का अन्त नहीं होता और निर्मोहता तथा निरभिमानता के बिना न तो वास्तविक

जीवन से अभिन्नता ही होती है और न प्रेम का उदय ही होता है। मोह तथा अभिमान का अन्त करने के लिए वर्तमान के सदुपयोग द्वारा जिज्ञासा की जागृति अनिवार्य है, क्योंकि जिज्ञासा की पूर्ति में ही जीवन निहित है और जीवन की प्राप्ति में ही मोह तथा अभिमान का अन्त है, अथवा यों कहो कि मोह तथा अभिमान के अन्त में ही जीवन की प्राप्ति है।

जीवन के बिना अभाव की और प्रेम के बिना नीरसता की सिद्धि होगी, जो किसी को अभीष्ट नहीं है; स्वाभाविक आवश्यकता तो जीवन तथा नित-नव रस की है। अतः जीवनकी जिज्ञासा और प्रेम की लालसा, इनकी पूर्ति में ही स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति निहित है। रागरहित होने में चिर-शान्ति है, चिर-शान्ति में नित्य-जीवन और नित्य जीवन में प्रेम की अभिव्यक्ति निहित है। ये सब मिलकर ही जीवन की एकमात्र आवश्यकता है। इनमें-से किसी एक अंश को ही जीवन मान लेना जीवन का अधूरापन है। जीवन के किसी एक अंश को ही जीवन मान लेने पर अनेक प्रकार के वाद तथा मत सिद्धान्तरूप मालूम होते हैं, जो वास्तव में साधनरूप हैं। अतः चिर-शान्ति, अमरत्व और प्रेम—इन तीनों के बिना स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति नहीं हो सकती। इन तीनों की एकता में ही वास्तविक जीवन है।

इस दृष्टि से साधक को रागरहित होने के लिए वर्तमान का सदुपयोग करना है और जिज्ञासा की पूर्ति से अमरत्व प्राप्त करना है, जो रागरहित होने पर स्वतः सिद्ध है, एवं जिज्ञासा की पूर्ति में ही प्रेम की प्राप्ति है, क्योंकि निस्संदेहता आने पर ही प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है। निस्संदेहता

सीमित अहंभाव को प्रेम के स्वरूप में बदल देती है, अथवा यों कहो कि अनेक आसक्तियाँ मिटकर प्रीति के रूप में बदल जाती हैं, फिर विश्व-प्रेम, आत्मरति एवं अनन्त का प्रेम—इन तीनों में अभिन्नता हो जाती है, जो स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति में समर्थ है। अथवा यों कहो कि अनन्त का प्रेम ही जिज्ञासा की पूर्ति की दृष्टि से आत्मरति और सर्वहितकारी प्रवृत्ति की दृष्टि से विश्व-प्रेम के स्वरूप में प्रतीत होता है। अथवा अनन्त के प्रेम में ही सभी का प्रेम निहित है। इस दृष्टि से चिर-शान्ति, अमरत्व और प्रेम की प्राप्ति एक ही जीवन की विभूतियाँ हैं, और कुछ नहीं। उनमें-से किसी एक की प्राप्ति होने पर सभी की प्राप्ति हो जाती है, यही वास्तविक आवश्यकता की पूर्ति है।

'मैं' का स्वरूप

जीवन का अध्ययन करने पर यह प्रश्न स्वाभाविक उत्पन्न होता है कि, 'मैं क्या हूँ ?' यह नियम है कि प्रश्न की उत्पत्ति अधूरी जानकारी में ही होती है। जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते अथवा पूरा जानते हैं, उसके सम्बन्ध में प्रश्न की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि, 'मैं क्या हूँ', इस सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति कुछ-न-कुछ अवश्य जानता है। हाँ, यह अवश्य है कि वह जानना विवेकपूर्वक न हो, अपितु विश्वास के आधार पर हो, क्योंकि विवेकपूर्वक जान लेने पर तो निस्संदेहता आ जाती है, फिर प्रश्न की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती।

विकल्परहित विश्वास ज्ञान न होने पर भी ज्ञान-जैसा प्रतीत होता है। उसी बिश्वास के कारण यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, 'मैं क्या हूँ ?' क्योंकि 'मैं' की अस्वीकृति किसी को नहीं है। यद्यपि केवल स्वीकृति को 'मैं' नहीं कह सकते, तो भी हम स्वीकृति के स्वरूप में अपने को मानते हैं। कभी-कभी तो दृश्य के साथ मिलाकर अपने को मान लेते हैं और कभी श्रवण की हुई स्वीकृति को भी 'मैं' मान लेते हैं। जब हम दृश्य के साथ मिलाकर अपने को मानते हैं, तब कामनाओं का उदय होता है और वे सभी कामनाएँ इन्द्रियजन्य स्वभाव के अनु-

रूप होती हैं, अर्थात् इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त कराने वाली होती हैं। यद्यपि विषय-प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति कुछ नहीं होती, अपितु शक्तिहीनता, जड़ता एवं परतंत्रता की अनुभूति होती है। उस अनुभूति के आधार पर ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'मैं क्या हूँ ?' अथवा यों कहो कि सामर्थ्य, चिन्मयता एवं स्वाधीनता की माँग उत्पन्न होती है।

इस दृष्टि से 'मैं' का अर्थ हो जाता है—उसकी लालसा, जिसमें जीवन है, सामर्थ्य है, स्वाधीनता है। जब तक भोग-प्रवृत्ति के परिणाम की वेदना नहीं होती, तब तक तो 'मैं' का अथ रहता है—भोग-वासनाओं का समूह। यद्यपि भोग-वासनाएँ जिज्ञासा को मिटा नहीं पातीं, परन्तु उसमें शिथिलता अवश्य आ जाती है। उसी स्थिति में प्राणी को कभी भोग-वासनाएँ और कभी जिज्ञासा दोनों ही अपने में प्रतीत होती हैं, अथवा यों कहो कि जिज्ञासा और भोग-वासनाओं का द्वन्द्व रहता है। उस द्वन्द्व का अन्त करने के लिए ही प्राणी अपने को साधक मानता है, अथवा यों कहो कि उसमें साधन की रुचि जागृत् होती है। साधन की रुचि जागृत् होने पर सर्व प्रथम, 'मैं दृश्य नहीं हूँ', यह विचार उदित होता है। उसका उदय होते ही, 'मैं क्या हूँ ?' यह समस्या सामने आती है।

देह के साथ अपने को मिला लेना ही दृश्य के साथ मिल जाना है। पर उस देह के प्रति भी अनेक मान्यताएँ होती हैं, जो साधनरूप हैं। जैसे, 'मैं हिन्दुस्तानी हूँ'। अतः हिन्दुस्तान का ह्रास-विकास मेरा ह्रास-विकास है। उसी प्रकार

देश, जाति, मत, सम्प्रदाय, पद, कुटुम्ब और कार्य क्षेत्र के अनुरूप अनेक मान्यताओं के साथ हम अपने को मिला लेते हैं, पर सभी मान्यताओं की भूमि केवल देह है। इस दृष्टि से देह साधन का क्षेत्र है; परन्तु अन्तर यह हो जाता है कि केवल देह के साथ मिले रहने से तो पशुता के समान केवल भोग की ही रुचि उत्पन्न होती है। पर साधनरूप मान्यताओं के साथ मिलने से भोग-प्रवृत्ति में भी एक मर्यादा आती है और उसके साथ-साथ भोग-निवृत्ति की लालसा भी जागृत् हो जाती है, क्योंकि भोग-प्रवृत्ति का परिणाम किसी को अभीष्ट नहीं है।

साधनरूप समस्त मान्यताएँ दो भागों में विभाजित हैं—एक भाग तो वह है, जिसमें अपने को सुन्दर बनाने वाली मान्यताएँ हैं और दूसरा भाग वह है, जिसमें दूसरों के अधिकार की रक्षा करने वाली मान्यताएँ हैं। अथवा यों कहो कि अपने को सुन्दर बनाकर दूसरों के अधिकारों की रक्षा करना है। दूसरों के अधिकार की रक्षा से जब राग की निवृत्ति हो जाती है, तब स्वतः समस्त दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होते ही जिज्ञासा की पूर्ति अपने-आप हो जाती है। फिर यह प्रश्न कि, "मैं क्या हूँ ?" हल हो जाता है।

साधनरूप 'मैं' यद्यपि तीन भागों में विभाजित है—विषयी, जिज्ञासु तथा भक्त। उनमें-से विषयी-भाव की मान्यता तो दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होने देती, किन्तु जिज्ञासु तथा भक्त-भाव की मान्यताएँ दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद करने में समर्थ हैं। अपने को विषयी मान लेने में उत्कृष्ट भोगों की ही रुचि दृढ़ होती है, जो दृश्य से सम्बन्ध जोड़ती है। दृश्य

से सम्बन्ध रहते हुए, "'मैं' क्या हूँ ?" यह प्रश्न हल नहीं हो सकता।

ज्ञान, विज्ञान एवं कलाओं के द्वारा परिवर्तनशील जीवन को सुन्दर बनाने का अर्थ यह है कि उस व्यक्तित्व की आवश्यकता समाज को हो जाए और उसे समाज की आवश्यकता न रहे। अथवा यों कहो कि उसकी आवश्यकता को समाज अपनी ही आवश्यकता समझने लगे। यदि समाज की उदारता, सेवा एवं स्नेह के आधार पर व्यक्तित्व का मोह सुरक्षित रहा, तो भी यह प्रश्न हल नहीं होगा कि, 'मैं क्या हूँ ?', 'मैं क्या हूँ', इस प्रश्न को वही साधक हल कर सकता है, जो समाज का ऋणी न हो और समाज की उदारता की दासता में आबद्ध भी न हो। समाज का ऋणी न रहने पर व्यक्ति का मूल्य समाज से अधिक हो जाता है और समाज की उदारता का उपभोग न करने पर वह व्यक्तित्व के मोह से रहित हो जाता है। व्यक्तित्व के मोह का अन्त होते ही तीव्र जिज्ञासा जागृत् होती है, जो 'मैं क्या हूँ', इस समस्या को हल करने में समर्थ है। जिस काल में जिज्ञासा माने हुए सभी सम्बन्धों को खा लेती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है। तब 'मैं' नित्य-जीवन से अभिन्न हो जाता है।

अनित्य जीवन और नित्य-जीवन का आश्रय बिना लिए 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अनित्य जीवन के साथ मिलाने से 'मैं' अनेक मान्यताओं के रूप में प्रतीत होता है और मान्यता के अनुरूप ही कर्तव्य तथा राग का जन्म होता है। कर्तव्य राग-निवृत्ति का साधन है। अतः जिस प्रकार औषधि की आवश्यकता रोग-काल में होती है, आरोग्य-काल

में नहीं, उसी प्रकार कर्तव्य की प्रेरणा राग-निवृत्ति के लिए ही होती है। राग-रहित होते ही अनित्य जीवन से तो सम्बन्ध टूट जाता है और नित्य-जीवन से अभिन्नता हो जाती है; क्योंकि अनित्य जीवन और नित्य-जीवन में देश-काल की दूरी नहीं है। अनित्य जीवन की भिन्नता और नित्य-जीवन की अभिन्नता के मध्य में 'मैं' जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु कभी देखने में नहीं आती। हाँ, यह अवश्य है कि अनित्य जीवन के सम्बन्ध से जो आसक्ति उत्पन्न हो गई थी, वह नित्य-जीवन से अभिन्नता होते ही प्रीति के रूप में बदल जाती है। जिस प्रकार पहले अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति प्रतीत होती थी, उसी प्रकार तब नित्य-जीवन और उसकी प्रीति ही रह जाती है। अन्तर केवल इतना ही है कि अनित्य जीवन और उसकी आसक्ति तो विनाशी है तथा नित्य-जीवन और उसकी प्रीति अविनाशी है। जिज्ञासा के उदय में साधक अकाम होता है और पूर्ति में आप्तकाम हो जाता है, यही वास्तविक जीवन है।

अब यदि कोई कहे कि जिज्ञासापूर्ति के लिए साधक को किस साधन की अपेक्षा है? तो कहना होगा कि भोग के परिणाम की अनुभूति के आधार पर जिज्ञासा जागृत् होती है और समस्त दृश्य से विमुख होने पर जिज्ञासा की पूर्ति होती है। समस्त दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त होती है, जो स्वभाव से ही सभी का परम सुहृद् है। अथवा यों कहो कि जो उत्पत्ति, विनाश और देश-काल की दूरी से रहित है, उसी की अहैतुकी कृपा से दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य जिज्ञासु को प्राप्त होती है। अतः दृश्य की विमुखता ही जिज्ञासा की पूर्ति का सुगम और

अन्तिम साधन है। जब किसी कारण से जिज्ञासु मिली हुई सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं कर पाता, तब वही कृपा सद्गुरु के स्वरूप में मूर्तिमान होकर जिज्ञासा की पूर्ति कर देती है।

जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान जीवन का प्रश्न है, भविष्य का नहीं। अतः जिज्ञासा जागृत् होने पर जब तक हल न हो जाए, तब तक किसी अन्य प्रवृत्ति का जन्म नहीं होना चाहिए। यदि किसी की जिज्ञासा इतनी सबल तथा स्थाई नहीं है, जो वर्तमान की वस्तु हो, तो ऐसे जिज्ञासुओं को चाहिए कि वे जिज्ञासा को सबल और स्थाई बनाने के लिए निरन्तर इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि को लगाए रखें। उन्हें इन्द्रिय-ज्ञान पर बुद्धि-ज्ञान से विजय प्राप्त करनी होगी। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रिय-ज्ञान को खा लेगा, उसी काल में जिज्ञासा वर्तमान जीवन की वस्तु हो जाएगी। फिर, 'मैं क्या हूँ', यह प्रश्न स्वतः हल हो जाएगा। बुद्धि के ज्ञान का अनादर होने पर जिज्ञासा की जागृति नहीं हो सकती, क्योंकि बुद्धि के ज्ञान के अनादर से इन्द्रिय-ज्ञान का आदर होने लगता है, जो राग को उत्पन्न करने में हेतु है।

राग की उत्पत्ति हो जाने पर इन्द्रियाँ विषयों के अधीन, मन इन्द्रियों के अधीन और बुद्धि मन के अधीन हो जाती है। इससे बेचारा प्राणी जड़ता में आबद्ध हो जाता है। परन्तु बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि सम हो जाती है। उससे जिज्ञासा की पूर्ण जागृति और उसकी पूर्ति की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है।

बुद्धि के ज्ञान का आदर होने पर दृश्य के स्वरूप का और अपने कर्तव्य का भी ज्ञान हो जाता है, अर्थात् बुद्धि के ज्ञान में कर्तव्य का तथा दृश्य के स्वरूप का ज्ञान भी निहित है। जो साधक दृश्य के स्वरूप को भलीभाँति जान लेते हैं, वे रागरहित होकर प्रत्येक दशा में जिज्ञासु हो सकते हैं, अर्थात् उनके लिए कोई प्रवृत्ति अपेक्षित नहीं रहती। किन्तु जो साधक दृश्य के स्वरूप को पूर्णरूप से नहीं जान पाते, वे पहले कर्तव्य-निष्ठ होकर पीछे जिज्ञासु होते हैं। जिज्ञासा की जागृति के लिए रागरहित होना अनिवार्य है, चाहे प्रवृत्ति द्वारा हो अथवा दृश्य के वास्तविक स्वरूप को जानकर।

जो साधक सरल विश्वास के आधार पर अपने को भक्त मान लेता है, वह स्वभाव से ही समस्त विश्व से सम्बन्ध-विच्छेद कर देता है और अपने प्रभु से नित्य-सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है। उसमें न तो अपना कोई बल रहता है और न किसी प्रकार का संदेह ही रहता है। जिनसे उसने सम्बन्ध स्वीकार किया है, उनके विश्वास और उनकी प्रीति को ही वह अपना जीवन मानता है। देह, गेह आदि किसी से उसका सम्बन्ध नहीं रहता। वह प्रत्येक कार्य अपने प्रभु के नाते ही स्वीकार करता है। कार्य के अन्त में स्वभाव से ही प्रभु की वह स्मृति उदित होती है, जो प्रीति के स्वरूप में बदल कर उसे प्रियतम से अभिन्न कर देती है।

जिज्ञासु और भक्त में अन्तर केवल इतना है कि जिज्ञासु दृश्य के स्वरूप को जानकर दृश्य से विमुख होता है और भक्त उसे अपना न मानकर। दृश्य से विमुख होने में दोनों समान हैं। जिज्ञासु जानने के पश्चात् किसी की सत्ता स्वीकार करता

है और भक्त बिना ही जाने, विश्वास के आधार पर ही अपने प्रभु की सत्ता स्वीकार कर लेता है।

जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर उस अनन्त से अभिन्न हो जाता है, जिसकी वह जिज्ञासा थी और भक्त 'भक्ति' होकर अपने प्रभु से अभिन्न हो जाता है। जिज्ञासु जिज्ञासापूर्ति होने पर अमरत्व को प्राप्त करता है और भक्त 'भक्ति' होकर अपने प्रेमास्पद के प्रेम को प्राप्त करता है। जिज्ञासु का 'मैं' अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का 'मैं' प्रेमास्पद का प्रेम हो जाता है।

विषयी का 'मैं' एकमात्र विषयों की आसक्ति के रूप में ही प्रतीत होता है, जिज्ञासु का 'मैं' अमरत्व से अभिन्न हो जाता है और भक्त का 'मैं' प्रेम हो जाता है। जो 'मैं' विषयों की आसक्ति के रूप में प्रतीत होता है, वह अभावरूप है; क्योंकि विषयासक्ति में जीवन नहीं है। जिज्ञासु का 'मैं' जिज्ञासा काल में केवल जिज्ञासा है और जिज्ञासा की पूर्ति में उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि जिज्ञासा उससे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह जिज्ञासा थी। भक्त का 'मैं' आरम्भ में तो प्रभु का विश्वास और प्रभु के सम्बन्ध के रूप में प्रतीत होता है; पर अन्त में प्रभु का प्रेम हो जाता है। प्रेम और प्रेमास्पद में जातीय एकता है। इस दृष्टि से 'मैं' अभाव, अमरत्व या प्रेम ही है, और कुछ नहीं है।

(१२)

त्याग और प्रेम

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि त्याग और प्रेम के बिना जीवन की सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती। त्याग की भूमि है, 'ममता का अन्त' और प्रेम की भूमि है, 'अभिन्नता'।

ममता का उद्गम स्थान क्या है ? सीमित अहंभाव, जो अविवेकसिद्ध है। इससे लाभ क्या है ? ममता प्रियता का भास कराती है। इससे हानि क्या है ? ममता सीमित प्यार में आबद्ध करती है, जो संघर्ष का मूल है।

ममता का अन्त करने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि सीमित अहंभाव का अन्त कर दिया जाए। विवेक के प्रकाश में उन सभी मान्यताओं का अन्त कर दें, जो अपने को सीमित अहंभाव में आबद्ध करती हैं। यह नियम है कि 'अहं' का नाश होने पर 'मम' का नाश स्वयं हो जाता है। अहं और मम का नाश होते ही भेद और भिन्नता स्वतः मिट जाती है। इनके मिटते ही अभिन्नता आ जाती है, जो प्रेम की भूमि है।

अब यदि कोई अपने को अहंभाव मिटाने में असमर्थ पाता हो, तो उसे अपनी ममता को विभु बना देना चाहिए। ममता के विभु हो जाने पर ममता स्वतः मिट जाएगी और ममता के मिटते ही अहं मिट जाएगा।

सभी को अपना मानने का वही फल होता है, जो किसी को भी अपना न मानने से होता है। इस दृष्टि से जिसे सभी

को अपना मानना रुचिकर हो, वह सभी को अपना मानकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है और जिसे किसी को भी अपना न मानना रुचिकर हो, वह सभी से असङ्ग होकर अभिन्नता प्राप्त कर सकता है। भाव यह कि शरीर, प्राण, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से असङ्ग होने पर निरभिमानता स्वतः आ जाती है और उसके आते ही भेद तथा भिन्नता मिट जाती है। इस दृष्टि से ममता-रहित होने में अभिन्नता हेतु है और अभिन्नता आ जाने पर ममता-रहित भी हुआ जा सकता है, अर्थात् त्याग से प्रेम और प्रेम से त्याग की पुष्टि होती है।

अब यदि कोई यह कहे कि त्याग और प्रेम से जीवन की सार्थकता कैसे सिद्ध होती है? तो कहना होगा कि त्याग के बिना चिर-शान्ति नहीं मिलती और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती। चिर-शान्ति के बिना जीवन तथा सामर्थ्य की उपलब्धि नहीं होती और अगाध अनन्त रस के बिना खिन्नता एवं नीरसता का अन्त नहीं हो सकता। खिन्नता तथा नीरसता का अन्त हुए बिना काम का अन्त नहीं होता और काम का अन्त हुए बिना जड़ता, परतन्त्रता, शक्तिहीनता आदि दोषों का अन्त नहीं हो सकता, अथवा यों कहो कि काम का अन्त हुए बिना अभाव का अभाव नहीं हो सकता। अभाव के अभाव में ही इस जीवन की सार्थकता है, जो त्याग और प्रेम से ही सम्भव है।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी को अपना मान लेने से ममता कैसे मिट सकती है? तो कहना होगा कि जो सभी को अपना मान लेगा, वह किसी का बुरा नहीं चाहेगा। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, वह अपने से

सुखियों को देखकर प्रसन्न होता है और अपने से दुखियों को देखकर करुणार्द्र होने लगता है। करुणा सुख-भोग की आसक्ति को और प्रसन्नता खिन्नता को खा लेती है। सुख-भोग की आसक्ति तथा खिन्नता के मिटते ही भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है। भोग-वासनाओं के अन्त में ही नित्य-योग निहित है और नित्य-योग में ही वह चिर-शान्ति तथा सामर्थ्य विद्यमान है, जिससे ममता और अहंता स्वतः मिट जाती है।

जब प्राणी अपने में असमर्थता तथा अभाव का अनुभव करता है, तभी वस्तु एवं व्यक्ति आदि से ममता करता है। वस्तु की ममता लोभ में और व्यक्तियों की ममता मोह में आबद्ध करती है। लोभ से जड़ता की और मोह से अविवेक की पुष्टि होती है, जो सभी दोषों का मूल है।

किसी को अपना न मानने से भी वासनाओं का अन्त हो जाता है और वासनाओं का अन्त होते ही चिर-शान्ति तथा अमरत्व की प्राप्ति स्वतः हो जाती है। अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि किसी को अपना न मानने से काम का नाश हो जाता है, क्योंकि जब तक हम किसी से ममता नहीं करते, तब तक कामनाओं का जन्म ही नहीं होता। देह को अपना मानने पर ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं।

चिर-शान्ति, अमरत्व एवं नित-नव रस की उपलब्धि के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सभी को अपना मानें अथवा किसी को अपना न मानें। सभी को अपना मानने से प्रीति विभु हो जाएगी और किसी को भी अपना न मानने से अमरत्व की प्राप्ति। प्रीति के विभु हो जाने पर प्राणी चाह-रहित हो जाता है और चाहरहित होते ही सब प्रकार के

भेद तथा संघर्ष मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही चिर-शान्ति से और अमरत्व से अभिन्नता हो जाती है।

अब यदि कोई यह कहे कि सभी को अपना मानने में सुगमता है अथवा किसी को अपना न मानने में ? तो कहना होगा कि सेवा तथा प्यार करने के लिए सभी को अपना मान लो और अपनी पूर्ति के लिए किसी को भी अपना मत मानो। सेवा क्रियात्मक रूप से सीमित और भावरूप से असीम होती है। सेवा का भाव ही वास्तव में प्यार है, अर्थात् क्रिया सीमित होने पर भी प्रीति विभु होनी चाहिए। सभी को अपना मान लेने पर संग्रह की आसक्ति मिट जाती है, जिसके मिटते ही निर्लोभता आ जाती है। निर्लोभता आते ही प्राप्त वस्तुओं का सदुपयोग होने लगता है और अप्राप्त वस्तुओं की चाह मिटती जाती है। वस्तुओं की चाह मिटते ही जड़ता शेष नहीं रहती और वस्तुओं से अतीत दिव्य चिन्मय जीवन की लालसा जागृत् होती है, जो अपनी पूर्ति में आप समर्थ है।

अपनी पूर्ति के लिए किसी को अपना न मानने से समस्त दृश्य से विमुखता आ जाएगी, जिसके आते ही अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाएगी। अतः सेवा करने के लिए सभी अपने हैं और अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए केवल वही अपने हैं, जो सभी से अतीत और सभी के प्रकाशक भी हैं, अथवा यों कहो कि जिनसे सभी को सत्ता मिलती है।

त्याग दृश्य से विमुख करने में और प्रेम अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है। इस दृष्टि से त्याग और प्रेम में ही जीवन की सार्थकता है, जो सभी साधकों को सर्वदा सुलभ है।

—×—

(१३)

विवेक की अलौकिकता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राप्त विवेक में कर्तव्य-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों ही विद्यमान हैं। कर्तव्य-विज्ञान के द्वारा प्राणी सुन्दर समाज का निर्माण कर सकता है और अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्न हो सकता है।

विवेक अलौकिक तत्त्व है। प्राणी को यह साधननिष्ठ होने के लिए ही मिला है। समस्त साधन दो भागों में विभाजित हैं—एक तो साधन का वह भाग है, जिसमें प्राणी अपने व्यक्तित्व को सुन्दर बनाकर सुन्दर समाज का निर्माण करता है और साधन का दूसरा भाग वह है, जिसमें प्राणी व्यक्तित्व के मोह तथा बन्धनों से रहित होकर अमरत्व को प्राप्त करता है।

विवेक किसी कर्म का फल नहीं है, क्योंकि कर्मानुष्ठान के लिए विवेक, सामर्थ्य और प्राकृतिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से कर्म विवेक का कार्य है, कारण नहीं। अतः विवेक अलौकिक तत्त्व है, जो अनन्त की अहैतुकी कृपा से मिला है। उसका आदर करना अत्यन्त आवश्यक है।

कर्तव्य-विज्ञान का प्रथम भाग व्यक्ति को सुन्दर बनाना है और दूसरा भाग सुन्दर व्यक्तित्व से समाज को सुन्दर

बनाना है। समाज को सुन्दर बनाने के लिए दूसरों के अधिकार की रक्षा करना आवश्यक है। अब यदि कोई यह कहे कि दूसरों का अधिकार क्या है? तो कहना होगा कि जो बात हम अपने प्रति दूसरों से नहीं कराना चाहते, वह दूसरों के प्रति नहीं करना है, अपितु जो हम दूसरों से आशा करते हैं, वही हमें दूसरों के प्रति करना है। प्रत्येक व्यक्ति अपने से जो सबल है, उससे रक्षा और प्यार की आशा करता है।

अतः अपने से निर्बलों की रक्षा करनी है और उन्हें प्यार देना है। ऐसा करने से प्राप्त बल का सदुपयोग होगा। बल के सदुपयोग से बल की वृद्धि होती है, क्योंकि कर्म-विज्ञान की दृष्टि से जो दूसरों के प्रति किया जाता है, वही प्राकृतिक नियम के अनुसार कई गुना होकर अपने प्रति हो जाता है। इस दृष्टि से बल के सदुपयोग में बल का विकास और दुरुपयोग में उसका ह्रास निहित है। कर्तव्य-विज्ञान बल के दुरुपयोग की प्रेरणा नहीं देता।

यह नियम है कि कोई व्यक्ति किसी अन्य के दुःख का अन्त नहीं कर सकता, तो भी प्राप्त सौन्दर्य और सुख को बाँटकर अपने को उदार तो बना ही सकता है। यह अवश्य है कि समस्त विश्व मिलकर भी किसी एक व्यक्ति के दुःख का नितान्त अभाव नहीं कर सकता, फिर किसी व्यक्ति के द्वारा किसी व्यक्ति के दुःख का सर्वथा अन्त हो सके, यह कैसे सम्भव है? पर इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति प्राप्त सुख को दुःखियों की सेवा में व्यय न करे; क्योंकि सुख तो वास्तव में दुःखियों की ही वस्तु है। अतः उसे दुःखियों की सेवा में व्यय करके अपने को सुख की दासता से मुक्त करना है। सुख की

दासता से मुक्त होते ही प्राणी में सब प्रकार के अभाव का अभाव करने की लालसा स्वतः जागृत होती है। उस लालसा की पूर्ति के लिए अध्यात्म-विज्ञान की आवश्यकता है।

अध्यात्म-विज्ञान का अर्थ है, 'स्व' का विज्ञान, जो 'पर' से विमुख होने की प्रेरणा देता है। 'स्व' का अर्थ है, जिससे नित्य-योग है और 'पर' का अर्थ है, जिससे वियोग अनिवार्य है। जागृत् का समस्त दृश्य स्वप्न में नहीं रहता और स्वप्न का दृश्य सुषुप्ति में नहीं रहता तथा सुषुप्ति की जड़ता समाधि में नहीं रहती, परन्तु इन सभी अवस्थाओं का प्रकाशक तो सर्वदा ज्यों-का-त्यों रहता है। इस दृष्टि से सभी वस्तुओं, अवस्थाओं एवं परिस्थितियों से अतीत का योग ही नित्य-योग है।

जागृत्, स्वप्न, सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं का ज्ञान तो प्रायः प्रत्येक व्यक्ति को है ही। जाग्रत् और स्वप्न में सुख-दुःख की अनुभूति होती है, पर सुषुप्ति में किसी को भी दुःख की अनुभूति नहीं होती। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब दृश्य से सम्बन्ध नहीं रहता, तब दुःख नहीं होता। इस अनुभूति के आधार पर यदि जाग्रत् में ही सुषुप्ति प्राप्त कर ली जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक दुःख का अन्त हो सकता है।

जाग्रत् में सुषुप्ति प्राप्त करने के लिए वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक पूरी शक्ति लगाकर पवित्र भाव से करना है। कार्य का अन्त होते ही अपने को सब ओर से हटा लेना है और किसी भी कार्य का चिन्तन नहीं करना है। बस, ऐसा होते ही जाग्रत् में सुषुप्ति हो जाएगी, जो वास्तव में समाधि

है। समाधि और सुषुप्ति में अन्तर केवल इतना ही है कि सुषुप्ति में जड़ता है, किन्तु समाधि में जड़ता नहीं रहती। सुषुप्ति विश्राम देकर कार्य करने की क्षमता और समाधि जड़ता से विमुख करके उस चिन्मय दिव्य जीवन से अभिन्न होने की सामर्थ्य प्रदान करती है, जो वास्तविक जीवन है।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी वस्तुओं तथा अवस्थाओं के परिवर्तन का ज्ञान जिस ज्ञान में है, वही विवेक है। परिवर्तन का ज्ञान उसी को हो सकता है, जो स्वयं परिवर्तनशील न हो। कर्तव्यपरायणता के द्वारा व्यक्ति अपने को समाज तथा समस्त विश्व के ऋण से मुक्त कर सकता है और अध्यात्म-विज्ञान के द्वारा अपने को सब ओर से हटाकर अर्थात् जीवन ही में मृत्यु का अनुभव करके अपने ही में अपने परम प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है। इस दृष्टि से कर्तव्य-विज्ञान और अध्यात्म-विज्ञान दोनों ही से जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है और वे दोनों विवेक में विद्यमान हैं। विवेक और सामर्थ्य उस अनन्त की देन है, किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं, अथवा यों कहो कि व्यक्ति की खोज भले ही हो, उपज नहीं है। खोज उसी की होती है, जो है। अतः प्राप्त विवेक और सामर्थ्य के उपयोग में ही जीवन की सार्थकता है, अर्थात् उसके द्वारा ही अनन्त नित्य-चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो सकती है।

व्यक्तित्व की निवृत्ति में जीवन

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्तित्व तीन भागों में विभाजित है—कामना की उत्पत्ति में, पूर्ति में और निवृत्ति की लालसा में। कामना की उत्पत्ति में अभाव, पूर्ति में क्षणिक सुख और पूर्ति के परिणाम में भयंकर दुःख प्रतीत होता है, जो कामना-निवृत्ति की लालसा जागृत् करने में हेतु है। कामनाओं की उत्पत्ति के उद्गम स्थान और पूर्ति के क्षेत्र में जातीय एकता तथा गुणों की भिन्नता है, अर्थात् कामना की उत्पत्ति तथा पूर्ति का क्षेत्र एक एक ही धातु से निर्मित है। यदि ऐसा न हो, तो जिसमें कामना उत्पन्न होती है, उसकी न तो कामना-पूर्ति के क्षेत्र में आसक्ति होती और न प्रवृत्ति ही सिद्ध होती।

यह नियम है कि पर-प्रकाश्य तत्त्व में अनेक श्रेणियाँ होती हैं—जैसे यन्त्र, हाथ और संचालक का मस्तिष्क। ये तीनों ही पर-प्रकाश्य हैं; अतः एक ही जाति के हैं। परन्तु श्रेणी-भेद होने से यन्त्र, हाथ और मस्तिष्क की जड़ता में भेद मालूम होता है। यन्त्र की अपेक्षा हाथ में और हाथ की अपेक्षा मस्तिष्क में अधिक चेतना प्रतीत होती है। इस दृष्टि से कामनाएँ जिसमें उत्पन्न होती हैं वह, भोगने के साधन और भोग्य वस्तुएँ, ये सभी पर-प्रकाश हैं; किन्तु भोग्य वस्तु की अपेक्षा

भोगनें के साधनों में और उसकी अपेक्षा भोक्ता में अधिक चेतना प्रतीत होती है; जैसे, रूप की अपेक्षा नेत्र में और नेत्र की अपेक्षा देखने के अभिमानी में अधिक चेतना प्रतीत होती है।

इस बात को जानकर कि देखने का अभिमानी, नेत्र और रूप—ये तीनों एक ही जाति के हैं, उनमें केवल गुणों का ही भेद है। यदि देखने की कामना का अन्त कर दिया जाए, तो तीनों उसी एक में विलीन हो जाएंगे, जो तीनों का प्रकाशक है और तीनों को सत्ता देता है।

अब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि देखने के अभिमानी में देखने की कामना कब से उत्पन्न हुई और क्यों उत्पन्न हुई? तो विचार करने पर विदित होगा कि प्रवृत्ति स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन होती है। देखने की प्रवृत्ति से कोई ऐसा परिणाम प्राप्त नहीं होता, जिसका कोई अस्तित्व हो और प्रवृत्ति के अन्त में अभाव ही शेष रहता है। जिस प्रवृत्ति के परिणाम में अभाव हो एवं प्रवृत्ति-काल में परतन्त्रता हो, उसकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती। अतः देखने के अभिमानी में देखने की कामना कब से उत्पन्न हुई, इसके लिए किसी काल की कल्पना नहीं की जा सकती। केवल यह कहा जा सकता है कि देखने की प्रवृत्ति का अन्त होता है। इस कारण देखने की प्रवृत्ति की उत्पत्ति सिद्ध होती है, अर्थात् विनाश के आधार पर ही उत्पत्ति की बात कही जाती है।

देखने आदि की प्रवृत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि देखने की वास्तविकता जानने के लिए अर्थात् प्रवृत्ति की वास्तविकता जानने के लिए ही प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति की

वास्तविकता का ज्ञान होने पर प्रवृत्ति की कामना मिट जाती है, जिसके मिटते ही भोक्ता जिज्ञासु हो जाता है। जिस काल में जिज्ञासा जिज्ञासु को खाकर पूर्ण जागृत् होती है, उसी काल में उसकी पूर्ति हो जाती है, जिसके होते ही भोक्ता, भोगने के साधन और भोग्य वस्तुएँ, तीनों ही उसी में विलीन हो जाते हैं, जो सभी कल्पनाओं से अतीत है।

क्या भोक्ता के बिना भोग्य वस्तु और भोग्य वस्तु के बिना भोक्ता की सिद्धि हो सकती है? कदापि नहीं। भोक्ता भोग्य वस्तु का विनाशक है और भोग्य वस्तु भोक्ता को परिच्छिन्न तथा परतन्त्र बनाने में हेतु है।

यदि भोक्ता में परतन्त्रता और परिच्छिन्नता आ जाने की वेदना असह्य हो जाए, तो स्वाधीन और अपरिच्छिन्न होने की लालसा स्वत: जागृत् हो जाती है, जो भोग-वासनाओं को खाकर उनसे अभिन्न हो जाती है, जिसकी वह लालसा है, क्योंकि लालसा में सत्ता उसी की होती है, जिसकी वह लालसा होती है।

भोक्ता, भोग के साधन और भोग्य वस्तु; यद्यपि इन तीनों में जातीय एकता है। परन्तु भोक्ता कौन है? यह प्रश्न स्वत: उत्पन्न होता है। तो कहना होगा कि जो शरीर के साथ तादात्म्य स्वीकार करता है, वही भोक्ता है और जो भोक्ता है, वही कर्ता है; जैसे, श्रोत्र से तद्रूप होकर मैं सुनता हूँ और वाणी से तद्रूप होकर मैं बोलता हूँ इत्यादि।

यदि अपने को इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से तद्रूप न

किया जाए, तो भोक्ता के अस्तित्व की सिद्धि ही नहीं हो सकती। शरीर से तादात्म्य न रहने पर भोक्ता के अस्तित्व का तो पता ही नहीं चलता, केवल सर्व का प्रकाशक सर्व के साक्षी के रूप में शेष रहता है; जिस प्रकार दीपक के प्रकाश में कोई वेद पढ़ता है और कोई जुआ खेलता है, पर दीपक न तो वेद पढ़ता है और न जुआ खेलता है। यद्यपि प्रकाश के बिना दोनों ही कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, परन्तु प्रकाशक स्वयं कुछ नहीं करता। उसी प्रकार जो सर्व का प्रकाशक है, उसमें कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व का आरोप नहीं हो सकता। इस दृष्टि से जो प्रकाशक है, वह कर्ता तथा भोक्ता नहीं है और जो कर्ता तथा भोक्ता है, वह प्रकाशक नहीं है।

भोग-वासनाओं का अन्त होने पर भोक्ता-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। उसके मिटते ही भोग की आसक्ति सर्व-प्रकाशक की प्रीति बन जाती है, जो दिव्य तथा चिन्मय है।

संकल्पों की उत्पत्ति, पूर्ति और निवृत्ति एवं वस्तुओं की उत्पत्ति और विनाश तथा अवस्थाओं के परिवर्तन का ज्ञान जिसको है, उसे अपनी उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तन का ज्ञान नहीं है। जो उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तन से रहित है, वही उत्पत्ति, विनाश एवं परिवर्तन का प्रकाशक है।

उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन के मूल में उत्पत्ति, विनाश तथा परिवर्तनरहित तत्त्व का होना स्वाभाविक है, नहीं तो उत्पत्ति, विनाश और परिवर्तन की सिद्धि हो नहीं हो सकती; क्योंकि उत्पत्ति किसी से होगी और विनाश किसी में होगा। इस प्रकार परिवर्तन उत्पत्ति-विनाश के क्रम का नाम है।

उत्पत्ति और विनाश का मूल आधार एक है। इस दृष्टि से उत्पत्ति और विनाश में सत्ता उसी की हो सकती है, जो उनका आधार है, क्योंकि जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है, उसमें उत्पत्ति-विनाश घटित नहीं हो सकते। इस दृष्टि से जो सर्व का प्रकाशक है और सर्व का आधार है, उसी से सम्पूर्ण सत्ताएँ प्रकाशित होती हैं और सत्ता पाती हैं, क्योंकि अनेक स्वतन्त्र सत्ताएँ सिद्ध नहीं हो सकतीं।

सर्व का प्रकाशक और सर्व का आधार एक ही हो सकता है, उसमें श्रेणियाँ नहीं हो सकतीं। जिसमें श्रेणियाँ होती हैं, वह पर-प्रकाश्य होता है, स्वयं-प्रकाश नहीं। पर यह रहस्य वही जान पाता है, जो कामना की पूर्ति, उत्पत्ति और निवृत्ति के जाल से मुक्त होकर भोग की रुचि का अन्त करने में समर्थ है। भोग की रुचि का अन्त होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वतः मिट जाती हैं। फिर व्यक्तित्व गलकर उस अनन्त की प्रीति बन जाता है, जो सभी का सब कुछ है। उसी में वास्तविक जीवन निहित है।

(१५)

उपासना का रहस्य

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि व्यक्ति का जीवन स्वाभाविक आवश्यकता और अस्वाभाविक इच्छाओं का समूह है। अत: स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति और अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है। स्वाभाविक आवश्यकता की पूर्ति के लिए अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि स्वाभाविक आवश्यकता क्या है? तो कहना होगा कि स्वाभाविक आवश्यकता उसकी है, जो सर्वोत्कृष्ट हो, जिसमें किसी प्रकार का अभाव न हो, जो अनन्त ऐश्वर्य तथा माधुर्य सम्पन्न हो एवं जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो।

स्वाभाविक आवश्यकता जिसकी है, वह एक ही हो सकता है, अनेक नहीं; क्योंकि सर्वोत्कृष्ट दो नहीं हो सकते। इस दृष्टि से अनेक व्यक्तियों की आवश्यकता एक ही हो सकती है। अत: सभी को किसी एक को ही प्राप्त करना है, परन्तु योग्यता-भेद होने के कारण उसका बाह्यरूप एक नहीं हो सकता।

अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति के लिए यह आवश्यक है कि जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उससे नित्य-सम्बन्ध स्वीकार किया जाए। नित्य-सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जिससे जातीय तथा स्वरूप की एकता हो। अतः व्यक्ति को जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसी की उपासना करनी है और उसी से अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब व्यक्ति उसके प्रतीक में उन सभी दिव्य-चिन्मय गुणों की स्थापना करके, जो उसकी आवश्यकता में विद्यमान हैं, अपनी समस्त अस्वाभाविक इच्छाओं को उसके समर्पित कर दे। बस, यही उपासना की वास्तविकता है। यह प्राकृतिक नियम है कि प्रीति तथा नित्य-सम्बन्ध उसी से हो सकता है, जो सर्वोत्कृष्ट हो और अपने स्वभाव के अनुरूप हो; क्योंकि स्वभाव की एकता के बिना सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सर्वोत्कृष्ट एक है और व्यक्ति अनेक हैं। सभी को उसे ही प्राप्त करना है। व्यक्तियों के स्वभाव में समानता नहीं है, परन्तु आवश्यकता समान है।

स्वभाव की भिन्नता के कारण उसी एक में अनेक प्रकार के दिव्य गुणों की स्थापना करना अनिवार्य है। इन सभी भावों की सम्भावना उसी के प्रति हो सकती है, जो अनन्त हो और जो अनन्त सौन्दर्य एवं माधुर्य से सम्पन्न हो; क्योंकि ऐश्वर्य के बिना सर्वोत्कृष्टता सिद्ध नहीं होगी और माधुर्य के बिना वह सभी को अपना न सकेगा। इस दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति की उपासना के प्रतीक में भेद हो सकता है, जो उसने अस्वाभाविक स्वभाव के अनुसार स्वीकार किया है; परन्तु वास्तविकता में कोई भेद नहीं हो सकता।

प्रेम का यह स्वभाव है कि वह प्रेमी के अस्वाभाविक भावों को मिटाता जाता है और प्रेमास्पद के वास्तविक स्वभाव से उसे अभिन्न करता जाता है। इस कारण सभी प्रेमी अपने-अपने माने हुए स्वभाव को मिटाकर प्रेमास्पद के वास्तविक स्वभाव से अभिन्न हो जाते हैं, जो सर्वोत्कृष्ट है और अवर्णनीय है। इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रेमियों ने अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप प्रेमास्पद में जिन दिव्य गुणों की स्थापना की थी, वे सब गुण उसमें नहीं हैं। वे गुण तो हैं हीं, परन्तु उतने ही नहीं हैं, अपितु अनन्त हैं।

यदि प्रेमियों के स्वभाव के अनुरूप प्रेमास्पद न हो, तो कभी भी उससे नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता नहीं हो सकती। जिससे आत्मीयता नहीं होती, उससे प्रेम नहीं हो सकता और जिससे प्रेम नहीं हो सकता, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यह नियम है कि जिसकी प्राप्ति नहीं होती, उसकी आवश्यकता नहीं हो सकती।

जिसकी स्वाभाविक आवश्यकता है, उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। इस दृष्टि से सभी व्यक्तियों को सर्वोत्कृष्ट अनन्त ऐश्वर्य, माधुर्य-सम्पन्न प्रेमास्पद की प्राप्ति हो सकती है। प्रेमास्पद का वर्णन प्रेमियों की दृष्टि से भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार का हो, परन्तु प्रेमास्पद तो एक ही है। एक होने पर भी अनन्त होने के कारण अनेक प्रकार से उसे प्राप्त किया जा सकता है।

अतः प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वभाव के अनुसार उस अनन्त की उपासना कर सकता है। ज्यों-ज्यों प्रीति सबल

तथा स्थाई होती जाएगी, त्यों-त्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ स्वत: मिटती जाएँगी और ज्यों-ज्यों अस्वाभाविक इच्छाएँ मिटती जाएँगी, त्यों-त्यों प्रेमी का स्वभाव गलता जाएगा और प्रेमास्पद से अभिन्नता होती जाएगी। जिस काल में प्रेमी अपने सहित अपना सर्वस्व प्रेमास्पद के समर्पित कर देता है, उसी काल में प्रेमी 'प्रेम' होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। बस, यही उपासना की वास्तविकता है।

(१६)

निःसंदेहता तथा प्रीति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान जीवन विश्वास तथा संदेह का समूह है। संदेह वास्तविकता जानने के लिए है और विश्वास प्रेम-प्राप्ति के लिए। संदेह उसे नहीं कह सकते, जिसकी निवृत्ति न हो, अर्थात् संदेह की निवृत्ति अवश्य हो सकती है और उसकी निवृत्ति में वास्तविकता का ज्ञान निश्चित है। विश्वास जिस पर होता है, उससे नित्य-सम्बन्ध स्वाभाविक हो जाता है और नित्य-सम्बन्ध से प्रीति स्वतः जागृत् होती है, जो उससे अभिन्न कर देती है, जिसकी वह प्रीति है। विश्वास हो और प्रीति न हो, प्रीति हो और प्राप्ति न हो, यह सम्भव नहीं है, अर्थात् विश्वास से प्रीति का और प्रीति से प्राप्ति का होना अनिवार्य है।

विश्वास एक पर ही होता है, अनेक पर नहीं। सन्देह प्रतीति पर होता है, अदृश्य पर नहीं। जिसको जान लेते हैं, उसको मानने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि मानना उसी के सम्बन्ध में आवश्यक होता है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते। जिसके सम्बन्ध में कुछ जानते हैं और कुछ नहीं जानते, उसके सम्बन्ध में सन्देह होता है। इस दृष्टि से विश्वास उसी पर करना है, जिसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते।

यदि पूछा जाए कि हम किसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते ? तो कहना होगा कि उसी के सम्बन्ध में नहीं जानते, जिसको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा देखा नहीं है।

सन्देह उसी पर होता है, जिसको इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जानते हैं। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा जिसे जानते हैं, उस पर सन्देह क्यों होता है ? तो कहना होगा कि एक वस्तु को इन्द्रिय के द्वारा जैसी जानते हैं, वही वस्तु बुद्धि के द्वारा वैसी नहीं है, अर्थात् इन्द्रियों के ज्ञान पर बुद्धि के ज्ञान से सन्देह होता है। जिस पर इन्द्रियों के ज्ञान का प्रभाव होता है, उसी पर बुद्धि के ज्ञान का प्रभाव होता है। वस्तु भी एक है और जिस पर प्रभाव होता है वह भी एक है; परन्तु वस्तु को देखने के साधन अनेक हैं।

यदि नेत्र से पूछा जाए, तो समस्त सृष्टि को 'रूप' बताएगा और यदि श्रोत्र से पूछा जाए तो कहेगा कि 'शब्द' ही सृष्टि है। इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय अपने ही विषय का प्रतिपादन करेगी, परन्तु मन कहेगा कि सृष्टि में सभी इन्द्रियों के विषय हैं। मन और इन्द्रियों के निर्णय पर बुद्धि कहेगी कि मन और इन्द्रियाँ जिनकी सत्ता स्वीकार करते हैं, वे सभी परिवर्तनशील हैं। ज्यों-ज्यों मन, इन्द्रिय आदि का प्रभाव मिटता जाता है और बुद्धि का प्रभाव होता जाता है, त्यों-त्यों राग 'वैराग्य' में और भोग 'योग' में बदलता जाता है।

जिस काल में बुद्धि के ज्ञान का पूर्ण प्रभाव हो जाता है, उसी काल में राग का अन्त हो जाता है। रागरहित होते ही जो भोगी था, वह योगी हो जाता है। भोगी होने पर अनेक

प्रकार के अभाव प्रतीत होते हैं और योगी होने पर चिर-शान्ति तथा आवश्यक सामर्थ्य का वह विकास होने लगता है, जो नि:संदेहता प्राप्त कराने में समर्थ है। नि:संदेहता आते ही मृत्यु अमरत्व में, जड़ता चिन्मयता में और दु:ख आनन्द में बदल जाता है, यही वास्तविक जीवन है।

नि:संदेहता आ जाने पर इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का व्यापार राग-द्वेषरहित होने लगता है, क्योंकि नि:सन्देहता के आते ही कामनाओं का अन्त हो जाता है। कामनाओं का अन्त होने पर विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अपने प्रकाशक में विलीन हो जाती है। वास्तविकता का ज्ञान होने पर इन्द्रिय, बुद्धि आदि का व्यापार-काल हो अथवा विश्राम-काल हो, उससे वास्तविक ज्ञान में कोई भेद नहीं होता। जिस प्रकार जल का ज्ञान होने पर चाहे समुद्र शान्त हो या तरंगित, समुद्र और लहर का कोई भेद नहीं रहता, उसी प्रकार वास्तविकता का ज्ञान होने पर चाहे इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का व्यापार हो, अथवा वे सभी सम हों, वास्तविकता ज्यों-की-त्यों रहती है।

दृश्य की स्वीकृति में मृत्यु का दर्शन निहित है और उसकी अस्वीकृति में अमरत्व की प्राप्ति स्वत: सिद्ध है। दृश्य की वास्तविकता जान लेने पर और दृश्य की अस्वीकृति में भी नि:सन्देहता आ जाती है। सन्देह तभी तक रहता है, जब तक दृश्य को स्वीकार करते हैं; पर उसकी वास्तविकता नहीं जानते, अथवा दृश्य को अस्वीकार कर अमरत्व को प्राप्त नहीं होते।

विश्वास, सम्बन्ध और प्रीति—इन तीनों की सार्थकता एक ही में होने पर होती है, अनेक में नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि प्रीति अनेक में एक ही का दर्शन करा सकती है; कारण, कि विश्वास करने योग्य एक ही है और अनेक में भी उसी की सत्ता है, अथवा यों कहो कि वह एक ही अनेक रूप में प्रतीत होता है। यह प्रीति की महिमा है कि वह अनेकता में एकता का दर्शन कराती है, क्योंकि प्रीति ने उससे भिन्न किसी अन्य को देखा ही नहीं, जिसकी वह प्रीति है। इस दृष्टि से प्रीति सदैव एक ही में निवास करती है और निःसंदेहता आ जाने पर भी एक ही से अभिन्नता होती है। अतः निःसंदेहता अथवा विश्वासपूर्वक किसी एक ही को प्राप्त करना है।

जब संदेह समस्त दृश्य पर हो, तभी निःसंदेहता सम्भव है, क्योंकि दृश्य अनेक होने पर भी स्वरूप से एक है और विश्वास उसी एक पर हो सकता है, जिसकी इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि को प्रतीति नहीं हुई। जो दृश्य के किसी अंश पर तो सन्देह करते हों और किसी अंश पर विश्वास करते हों, उन्हें निःसंदेहता नहीं मिल सकती और जो प्रतीति के आधार पर विश्वास करना चाहते हों, उनमें अविचल विश्वास नहीं हो सकता।

जिन साधकों को निःसंदेहतापूर्वक अनन्त से अभिन्न होना हो, वे समस्त दृश्य पर सन्देह करें, किसी अंशमात्र पर नहीं और जिन्हें विश्वास के द्वारा अनन्त से अभिन्न होना हो, वे उस पर विश्वास करें, जिसकी कभी भी प्रतीति नहीं हुई। जिसकी कभी भी प्रतीति नहीं हुई, उस पर विश्वास करते ही प्रतीति मात्र से साधक विमुख हो जाता है। विमुख होते ही

जिस पर विश्वास किया था, उससे नित्य-सम्बन्ध और उसकी प्रीति स्वत: जागृत् हो जाती है, जो विश्वास-कर्ता को उससे अभिन्न करने में समर्थ है, जिस पर उसने विश्वास किया था।

विश्वासी और जिज्ञासु दोनों साधकों में अन्तर केवल इतना है कि जिज्ञासु दृश्य के स्वरूप को जानकर और विश्वासी किसी एक को मानकर दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद करता है। दृश्य से सम्बन्ध-विच्छेद होने पर दोनों की समान स्थिति हो जाती है। अन्तर केवल इतना होता है कि विश्वासी का अस्तित्व उसी की प्रीति हो जाता है कि जिस पर उसने विश्वास किया था और जिज्ञासु का अस्तित्व जिज्ञासा होकर उसी से अभिन्न होता है, जिसकी उसे जिज्ञासा थी।

जिज्ञासा सदैव जीवन की होती है और लालसा सदैव रस की होती है। पर ये दोनों जिसके प्रति होती हैं, वह एक ही है; क्योंकि प्रत्येक साधक की माँग वास्तव में रस और जीवन दोनों ही की होती है। ऐसी माँग किसी की नहीं होती कि रस हो और जीवन न हो अथवा जीवन हो और रस न हो। अत: जीवन और रस की उपलब्धि जिससे होगी, वह भी एक ही होना चाहिए, क्योंकि रस और जीवन की एक ही माँग जब सभी साधकों की है, तब साध्य दो नहीं हो सकते। यह सम्भव नहीं है कि रस किसी और में मिले तथा जीवन किसी और में मिले। इस दृष्टि से जिज्ञासु 'जिज्ञासा' होकर जिससे अभिन्न होता है, विश्वासी भी 'प्रीति' होकर उसी से अभिन्न होता है। इतना ही नहीं, जीवन और रस का विभाजन भी नहीं हो सकता, अर्थात् जीवन में रस और रस

में जीवन है। जीवन नित्य है और रस अनन्त। जिज्ञासा 'जीवन' का प्रतीक है और प्रेम 'रस' का।

सन्देह उसे नहीं कहते, जिसकी निवृत्ति न हो, जीवन उसे नहीं कहते, जिसकी प्राप्ति न हो और आवश्यकता उसे नहीं कहते, जिसकी पूर्ति न हो। अतः सन्देह की निवृत्ति, जीवन की प्राप्ति और आवश्यकता की पूर्ति अनिवार्य है। यह तभी सम्भव है, जब संयोग से उत्पन्न होने वाली आसक्ति और मृत्यु का अन्त हो जाए तथा नित्य-योग से प्राप्त होने वाले अमरत्व और प्रीति की प्राप्ति हो जाए। अतएव सन्देह की निवृत्ति और प्रेम की प्राप्ति में ही वास्तविक जीवन निहित है।

(१७)

कर्तव्यनिष्ठा और स्मृति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि प्राणी में कुछ-न-कुछ करने की रुचि स्वभाव से ही विद्यमान है। उसकी पूर्ति के लिए साधक को सबसे प्रथम वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना है। वर्तमान कार्य का अर्थ है, जिसके बिना किये न रह सकें और जिसके करने से दूसरों के अधिकार सुरक्षित हो जाएँ।

अब यह प्रश्न होता है कि सुन्दरतापूर्वक कार्य करने का वास्तविक अर्थ क्या है ? तो कहना होगा कि जो प्रवृत्ति पवित्र भाव से भावित हो और जो भाव विवेक के प्रकाश से प्रकाशित हो, उसी प्रवृत्ति को सुन्दरतापूर्वक की हुई प्रवृत्ति कह सकते हैं। अतः हमें अपने वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करने के लिए सर्वप्रथम निज-विवेक के प्रकाश में भाव की शुद्धि करनी होगी, स्वार्थ भाव का त्याग करना होगा, अर्थात् हम जो भी कार्य करें, उससे किसी का अहित न हो, अपितु उसमें जिनसे उस कार्य का सम्बन्ध है, उनका हित तथा प्रसन्नता निहित हो। ऐसा करने से करने की रुचि का अन्त होगा और स्वभाव से ही जिज्ञासा तथा प्रिय-लालसा जागृत् होगी। जिज्ञासा की जागृति स्वयं अपनी पूर्ति में समर्थ है, क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है, जिससे स्वरूप की एकता है अर्थात् जिससे किसी प्रकार की दूरी नहीं है। जिज्ञासा की

पूर्ति में ही वास्तविक जीवन है। इस दृष्टि से वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना अनिवार्य है।

अब यदि कोई यह कहे कि बिना कार्य किये, क्या जिज्ञासा की जागृति नहीं हो सकती? तो कहना होगा कि उन साधकों को हो सकती है, जिनमें करने की रुचि विद्यमान नहीं है और जिन्हें जीवन ही में मृत्यु का अनुभव हो गया है। उन जिज्ञासुओं द्वारा न तो किसी का अहित होता है और न किसी के अधिकार का अपहरण ही होता है, क्योंकि वे तो अपना सर्वस्व सभी के हित में समर्पण कर देते हैं। यहाँ तक कि उनकी देह आदि में भी ममता नहीं रहती। उनकी दृष्टि बिना ही दृश्य के स्थिर हो जाती है। उनका चित्त बिना ही आधार के शान्त हो जाता है। अथवा यों कहो कि उनकी इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में विलीन हो जाती हैं, मन निर्विकल्प होकर बुद्धि में विलीन हो जाता है और बुद्धि समता में स्थित हो जाती है। ऐसा होते ही सीमित अहं-भाव गल जाता है और वास्तविक जीवन से उनकी अभिन्नता हो जाती है। उन साधकों पर कर्तव्य का कोई दायित्व नहीं रहता। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कर्तव्यनिष्ठ नहीं होते। उनमें कर्तव्यनिष्ठा साधन रूप से नहीं रहती, अपितु उनका स्वभाव हो जाती है।

जिज्ञासा कर्तव्यनिष्ठा की विरोधिनी नहीं है, अपितु पोषक है; क्योंकि कर्तव्यनिष्ठा ही जिज्ञासा को जन्म देती है। इस दृष्टि से कर्तव्यनिष्ठ प्राणी जिज्ञासु हो जाता है और जिज्ञासु स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ होता है। अन्तर केवल इतना है कि जो प्रथम जिज्ञासु होता

है, वह जिज्ञासा-पूर्ति के अनन्तर स्वभाव से ही कर्तव्यनिष्ठ हो जाता है और जो कर्तव्यनिष्ठ होता है, वह करने के राग से रहित होते ही जिज्ञासु हो जाता है।

इस दृष्टि से सुन्दरतापूर्वक किया हुआ वर्तमान कार्य राग-निवृत्ति का हेतु है। हाँ, यह अवश्य है कि एक कार्य का अन्त होने पर उससे सम्बन्ध नहीं रहना चाहिए और किसी अन्य कार्य का चिन्तन नहीं होना चाहिए। कार्य का चिन्तन न रहने से स्वभाव से ही शान्ति, विचार और प्रेम की प्राप्ति होगी। शान्ति से सामर्थ्य, विचार से अमरत्व और प्रेम से रस की उपलब्धि होगी, जो सभी को अभीष्ट है। कार्यजनित सुख का त्याग हो और फल की आशा न हो, तभी शान्ति सुरक्षित रह सकेगी।

शान्ति के सुरक्षित रहने से ही विचार तथा प्रेम का उदय होगा। शान्ति को सुरक्षित रखने के लिए शान्ति में रमण नहीं करना होगा। यदि शान्ति में रमण किया गया, तो केवल दुःख दब जाएगा; पर विचार तथा प्रेम का उदय नहीं होगा। अतः शान्ति को सुरक्षित रखना है, पर उसका भोग नहीं करना है, अर्थात् शान्ति में आबद्ध नहीं होना है। शान्ति से असङ्ग होते ही अमरत्व की प्राप्ति स्वतः हो जाएगी; क्योंकि शान्ति से अतीत 'जीवन' है, मृत्यु नहीं; 'चिन्मयता' है, जड़ता नहीं; 'आनन्द' है, दुःख नहीं; 'रस' है, नीरता नहीं।

शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि सभी कार्य करने के साधन हैं। उनके सदुपयोग में ही सफलता है; उनकी ममता में ही अपना विनाश है। अतः जो कार्य करने के साधन हैं,

उनसे सुन्दरतापूर्वक कार्य करो। कार्य के अन्त में इन्द्रियों को मन में और मन को बुद्धि में विलीन हो जाने दो। ऐसा होते ही चिन्मय जीवन में प्रवेश होगा। वह तब सम्भव होगा, जब कार्य तो चाहे जितना हो, पर कार्य का चिन्तन और फल की आशा न हो। यह सभी जानते हैं कि नाव जल में चलती है; पर जब उसमें जल भर जाता है, तब नाव डूब जाती है। उसी प्रकार समस्त कार्य मन, बुद्धि द्वारा ही होते हैं, परन्तु जब कार्य मन में भर जाता है, तब कर्ता डूब जाता है।

वर्तमान कार्य में मन, बुद्धि को लगा दो; पर कार्य के अन्त में बुद्धि को सम और मन को निर्विकल्प हो जाने दो, क्योंकि निर्विकल्प मन में ही प्रीतम निवास करता है और बुद्धि की समता से ही अनेकता एकता में विलीन होती है, अथवा यों कहो कि जब मन और बुद्धि में-से कार्य निकल जाता है, तब वे स्वत: चिन्मय हो जाते हैं, उनका चिन्मय जीवन में प्रवेश हो जाता है। इस दृष्टि से कार्य के चिन्तन का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, अपितु प्रत्येक कार्य को उस अनन्त के नाते अनन्त की प्रसन्नता के लिए सुन्दरतापूर्वक कर देना है। यही उनकी वास्तविक पूजा है।

इस दृष्टि से साधनयुक्त जीवन के दो भाग हो गए—एक तो, वर्तमान कार्य को सुन्दरतापूर्वक करना और दूसरा, कार्य के अन्त में प्रीतम की मधुर स्मृति का उदय होना।

अब यदि कोई यह कहे कि कार्य में और मधुर स्मृति में किसकी महत्ता अधिक है? तो कहना होगा कि कर्ता एक है और उसका उद्देश्य एक है; पर उस उद्देश्य की पूर्ति के

लिए साधन दो भागों में विभाजित है। उद्देश्य की एकता के कारण दोनों की महत्ता समान है। क्योंकि जिसकी स्मृति होती है, उसी का तो कार्य करना है।

अतः कार्य के अन्त में स्मृति की जागृति स्वाभाविक है। स्मृति और कार्य में अन्तर इतना है कि स्मृति अपने-आप उदित होती है और कार्य करना पड़ता है। परन्तु करने का राग रहते हुए स्मृति स्वतः उदित नहीं होती। अतएव स्मृति की जागृति के लिए करने का राग मिटाना आवश्यक है और वह सुन्दरतापूर्वक कार्य करने से ही मिट सकता है। सुन्दरता-पूर्वक कार्य करना स्मृति की भूमि है, और कुछ नहीं। जब स्मृति इतनी सबल हो जाती है कि अन्य की विस्मृति हो जाए, तब वह स्वतः उसमें विलीन हो जाती है, जिसकी वह थी। कोई व्यक्ति उसे भले ही न जाने, अथवा न माने; पर राग-रहित होते ही किसी की स्मृति स्वतः जागृत् होती है और जिसकी स्मृति जागृत् होती है, उसी को प्राप्ति होती है तथा वही सबका लक्ष्य भी है।

अब यदि कोई यह कहे कि राग-निवृत्ति के पश्चात् तो सभी दुःख मिट जाते हैं, फिर किसी की स्मृति क्यों आवश्यक है? तो कहना होगा कि राग-निवृत्ति होने पर उन सभी दुःखों का अन्त हो जाता है, जो सुखकी दासता से उत्पन्न हुए थे; परन्तु, 'मैं वीतराग हूँ,' 'मैं शान्त हूँ', 'मुझे कुछ नहीं चाहिए', ये जिस अहं की ध्वनि हैं, वह शेष रहता है। उसका नाश किसी की स्मृति से ही होता है। उसी के नाते साधक को प्रत्येक कार्य करना है और कार्य के अन्त में उसी की स्मृति बनकर

उसमें अभिन्न होना है। यह तभी सम्भव होगा, जब साधक प्रत्येक वर्तमान कार्य को सर्वोत्कृष्ट कार्य जानकर पूरी शक्ति लगाकर पवित्र भाव से लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए करे और कार्य के अन्त में कुछ काल शान्ति में निवास कर श्रम से रहित हो जाए। ऐसा होते ही करने का राग मिट जाएगा और प्रिय की वह स्मृति जागृत होगी, जो प्रिय से अभिन्न करने में समर्थ है। उसी प्रिय से साधक की जातीय तथा स्वरूप की एकता है।

कामना-निवृत्ति का महत्त्व

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि कामना-उत्पत्ति का दुःख और पूर्ति का सुख साधक का उस जीवन में प्रवेश नहीं होने देता, जो कामनाओं की निवृत्ति से प्राप्त होता है। अब यदि कोई कहे कि सुख-दुःख से अतीत भी क्या कोई जीवन है ? तो कहना होगा कि क्या सुख-दुःख जीवन है ? यदि सुख-दुःख जीवन है, तो मृत्यु क्या है ? अतः वास्तविक जीवन तो सुख-दुःख से अतीत ही है।

सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश उन्हीं का हो सकता है, जो सुख-लोलुपता से अपने को ऊपर उठा सकें। इसके लिए साधक को सुख की वास्तविकता को जानना होगा। अब यदि इस प्रश्न पर विचार किया जाए कि सुख-दुःख क्या है ? तो कहना होगा कि संकल्पपूर्ति का ही दूसरा नाम सुख है और संकल्प-उत्पत्ति का ही दूसरा नाम दुःख है। संकल्प-उत्पत्ति के पश्चात् ही उसकी पूर्ति का प्रश्न उत्पन्न होता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि संकल्प-पूर्ति के सुख के लिए संकल्प की उत्पत्ति का दुःख अनिवार्य है। अतः जिसे सुख कहते हैं, उसकी भूमि 'दुःख' है।

अब संकल्प-पूर्ति के परिणाम पर विचार करना है।

जिस वस्तु और व्यक्ति आदि के द्वारा संकल्प पूरा होता है, उसमें आसक्ति होना स्वाभाविक है। प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति परिवर्तनशील तथा क्षणभंगुर है। इस दृष्टि से संकल्प-पूर्ति के परिणाम में भी भयंकर दुःख है। जिस सुख का आरम्भ दुःख से होता है और जो सुख अन्त में भयंकर दुःख में बदल जाता है, उसकी आशा करना कहाँ तक विवेकयुक्त है ? अर्थात् सुख की आशा अविवेक-सिद्ध है। सुख की आशा मिटते ही अनावश्यक संकल्प मिट जाते हैं और आवश्यक संकल्प स्वतः पूरे होने लगते हैं। परन्तु इस प्रकार होने वाला संकल्प-पूर्ति का सुख साधक को बाँध नहीं पाता, क्योंकि उसकी दृष्टि में सुख का वह महत्त्व मिट जाता है, जिसके मिटते ही संकल्पों की निवृत्ति हो जाती है। इसी अवस्था में जिज्ञासा और प्रियलालसा की जागृति तथा शान्ति की उपलब्धि भी होती है। संकल्प-पूर्ति का लालच रहते हुए न तो कोई जिज्ञासु हो सकता है, न प्रेमी हो सकता है और न योगी ही हो सकता है। आज यदि योगी योग से, प्रेमी प्रेम से और जिज्ञासु निःसंदेहता अर्थात् तत्व-ज्ञान से विमुख है, तो उसका एकमात्र कारण है—कामना-पूर्ति के साथ-साथ योग, ज्ञान तथा प्रेम-प्राप्ति की आशा। यद्यपि योग भोग की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है, परन्तु कामना-पूर्ति का लालच योग नहीं होने देता।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या कामना-पूर्ति के लालच का जीवन में कोई स्थान हो नहीं है ? तो कहना होगा कि कामना-पूर्ति का स्थान भले ही हो, पर उसके लालच का कोई स्थान नहीं है; क्योंकि जिन कामनाओं का पूरा होना अनिवार्य है, वे तो स्वभाव से ही पूरी हो जाएगी।

पर उनकी पूर्ति का लालच तो नवीन कामनाओं को भी जन्म देगा। अतः वह न तो योग होने देगा, न विचार का उदय होने देगा और न प्रेम का उदय ही होने देगा। इस दृष्टि से कामना-पूर्ति के लालच का साधक के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

जब कामना-पूर्ति और अपूर्ति समान हो जाती है, तब साधक सुगमतापूर्वक कामना की अपूर्ति के दुःख का तथा कामना की पूर्ति के सुख का सदुपयोग कर सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। साधक को सुख-दुःख का सदुपयोग करना है, उनमें आबद्ध नहीं होना है। उनमें-से किसी एक का सदुपयोग करने पर दोनों का सदुपयोग हो जाता है, क्योंकि सुख-दुःख दोनों स्वरूप से एक हैं। दुःख का सदुपयोग शरीर तथा संसार के स्वरूप के ज्ञान में है, सुख की दासता में नहीं और सुख का सदुपयोग सेवा में है, भोग में नहीं। यह नियम है कि जिसका सदुपयोग कर दिया जाता है, उससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है और जिससे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, उसका अस्तित्व ही शेष नहीं रहता। अतः सुख-दुःख के सदुपयोग से सुख-दुःख मिट जाते हैं, जिनकेमिटते ही कामनाएं निवृत्त हो जाती हैं। कामना-निवृत्ति में चिर-शान्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति निहित है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या कामना-निवृत्ति में जीवन है ? तो कहना होगा कि कामना-उत्पत्ति से पूर्व और पूर्ति के अन्त में जो जीवन है, वही कामना-निवृति में है। कामना की उत्पत्ति में तो अभाव है और पूर्ति में जड़ता है। वास्तविक जीवन तो कामना-निवृत्ति में ही है। पर इस रहस्य को वे ही जान पाते हैं, जो कामना की उत्पत्ति से पूर्व के जीवन का अनुभव कर लेते हैं। बड़ी-से-बड़ी कामना की पूर्ति के

पश्चात् साधक उसी स्थिति में आता है, जो कामना-उत्पत्ति से पूर्व थी। इससे यह सिद्ध हुआ कि कामना की उत्पत्ति से पूर्व का जीवन स्वाभाविक जीवन है और कामना की उत्पत्ति तथा पूर्ति का जीवन अस्वाभाविक है, अथवा यों कहो कि वह जीवन नहीं, मृत्यु है।

कामना-उत्पत्ति और पूर्ति ही उस अनन्त में जगत् का दर्शन कराती है और कामना-निवृत्ति ही उस अनन्त से अभिन्न करती है। कामना की उत्पत्ति और पूर्ति से आसक्ति तथा कामना की निवृत्ति से अनुरक्ति प्राप्त होती है। अथवा यों कहो कि कामना की उत्पत्ति और पूर्ति जगत् की आसक्ति उत्पन्न करती है तथा कामना की निवृत्ति अनन्त की प्रीति जागृत् करती है। आसक्ति का अन्त होते ही जिज्ञासा की पूर्ति और प्रीति की जागृति स्वतः सिद्ध है। प्रीति की जागृति समस्त विश्व में अपने प्रीतम का ही दर्शन कराती है; क्योंकि आसक्ति प्रीतम में जगत् का और प्रीति जगत् में प्रीतम का दर्शन कराती है। बस, यही आस्तिकवाद और नास्तिकवाद का अन्तर है। नास्तिक जिस जगत् को अपनी भोग-सामग्री मानता है, आस्तिक उस जगत् को प्रीतम मानकर उसकी पूजा करता है। इस दृष्टि से कामना-उत्पत्ति और पूर्ति का जीवन 'नास्तिक-जीवन' है और कामना-निवृत्ति में 'आस्तिक-जीवन' है। हाँ, आस्तिक-जीवन नास्तिक जीवन का प्रकाशक है, नाशक नहीं। परन्तु आस्तिकता की लालसा नास्तिकता को खाकर आस्तिक बनाने में समर्थ है। वह आस्तिकता की लालसा कामना-निवृत्ति से ही पुष्ट होती है।

कामना-निवृत्ति के लिए कामना-पूर्ति के लालच का त्याग अनिवार्य है। यद्यपि कामना-पूर्ति प्राकृतिक विधान पर

निर्भर है, कामना-पूर्ति के लालच पर नहीं। परन्तु साधक प्रमादवश कामनापूर्ति का लालच करता है, जिसका उसके जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

कामना-पूर्ति श्रम तथा संग्रह-साध्य है और कामना-निवृत्ति श्रम-रहित है, क्योंकि कामना-निवृत्ति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, केवल प्राप्त विवेक के प्रकाश में कामनाओं के उद्गम स्थान को जानना है। कामनाओं का उद्गम स्थान है, सीमित अहंभाव, जिसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि वह अविवेक सिद्ध है। अतः कामनाओं की उत्पत्ति उससे होती है, जिसका अस्तित्व नहीं है, अथवा यों कहो कि कामनाओं की उत्पत्ति ही कामनाओं का ऐसा अस्तित्व है, जो कामनाओं की निवृत्ति होने पर शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से कामना-निवृत्ति को लालसा ही कामनाओं को खाकर जिज्ञासा के रूप में बदल जाती है। जिज्ञासा की पूर्ति स्वाभाविक है; क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है, जिससे किसी प्रकार की दूरी नहीं है और जो अनन्त तथा नित्य है।

आवश्यक कामनाओं की पूर्ति प्राकृतिक विधान से स्वतः हो जाती है और कामनाओं की निवृत्ति विवेकसिद्ध है। विवेक उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से सभी साधकों को स्वतः प्राप्त है, क्योंकि वह किसी प्रयत्न का फल नहीं है, अपितु विवेक से ही सभी प्रयत्न सिद्ध होते हैं। विवेक का सदुपयोग करते ही कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति स्वतः हो जाती है।

रहते हुए भी नहीं रहेंगे, क्योंकि जन्म से मृत्यु आरम्भ हो जाती है। इस दृष्टि से वस्तुओं का लोभ और व्यक्तियों का मोह कुछ अर्थ नहीं रखता। हाँ, यह अवश्य है कि उत्पादित वस्तुओं का व्यक्तियों की सेवा में उदारतापूर्वक उपयोग किया जा सकता है। इस दृष्टि से प्राणी के उदारभाव की आवश्यकता समस्त विश्व को हो सकती है। उदारता स्वभाव है, कोई ऐसी वस्तु नहीं, जो श्रम-साध्य हो।

प्राकृतिक विधान का आदर करने पर उदारता प्राप्त होती है। जिस प्रकार पृथ्वी पर सभी पौधे उगते तथा आश्रय पाते हैं, जल सभी की प्यास बुझाता है, सूर्य सभी को प्रकाश देता है, वायु सभी को श्वास लेने देती है और आकाश से सभी को अवकाश मिलता है, उसी प्रकार उदार स्वभाव से सभी को स्नेह तथा सहयोग मिलता है।

स्नेह की माँग प्राणीमात्र को रहती है, क्योंकि स्नेह के बिना जीवन में व्यापकता नहीं आती। सच तो यह है कि हमारा निर्माण भी किसी के स्नेह और उदारता से ही हुआ है। अतः स्नेह एवं उदारता से हमारी जातीय एकता है। जिससे हमारी जातीय एकता है, हम उससे विमुख हो गए हैं; दूर नहीं। विमुखता अपना ही बनाया हुआ दोष है, किसी और का नहीं। जब हम अपने बनाए हुए दोष का त्याग कर देंगे, तब हमारा समस्त जीवन विवेक और प्रेम से परिपूर्ण हो जाएगा। विवेकपूर्वक हम अनित्य-जीवन से विमुख होकर नित्य-जीवन प्राप्त कर सकते हैं, प्रेमी होकर प्रेमास्पद को रस प्रदान कर सकते हैं और प्राप्त बल के सदुपयोग से उत्कृष्ट भोग भी प्राप्त हो सकते हैं। परन्तु भोगों की प्राप्ति किसी

भी विवेकी तथा प्रेमी को अभीष्ट नहीं है; क्योंकि भोग का परिणाम रोग तथा शोक है। अथवा यों कहो कि भोग की प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि अन्य योनियों में भी हो सकती है। अतः भोग-प्राप्ति विवेकयुक्त जीवन का उद्देश्य नहीं है। विवेकयुक्त जीवन का उद्देश्य तो केवल कामनाओं की निवृत्ति, जिज्ञासा की पूर्ति और प्रेम की प्राप्ति ही हो सकता है। कामनाओं की निवृत्ति में नित्य-योग और चिर-शान्ति तथा जिज्ञासा की पूर्ति में अमरत्व की प्राप्ति होती है। परन्तु जिसे भोग अभीष्ट नहीं है, उसे ही नित्य-योग और अमरत्व प्राप्त होता है। जो अमरत्व की भी लालसा नहीं रखता, उसे प्रेम की प्राप्ति होती है। अमरत्व का महत्त्व भी तभी तक है, जब तक प्राणी कामनाओं के कारण जन्म और मृत्यु में आबद्ध है। प्राप्त विवेक के सदुपयोग से कामनाओं का अन्त वर्तमान में ही हो सकता है।

पुण्यकर्म आदि से उत्कृष्ट भोग और विवेक से अमरत्व प्राप्त हो सकता है। कर्म करने की सामर्थ्य और विवेक तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से स्वतः प्राप्त हैं। परन्तु प्रेम-प्राप्ति के लिए तो हमें उस अनन्त के समर्पित होना पड़ेगा। उसके लिए हमें उनकी दी हुई सामर्थ्य, योग्यता आदि को केवल उन्हें ही समर्पित करना होगा; जिस प्रकार शिशु माँ की उपार्जित वस्तुओं को माँ से उत्पन्न किये हुए हाथों के द्वारा ही जब माँ के भेंट कर देता है, तब माँ प्रसन्न हो जाती है। बेचारे बालक के पास अपनी कोई वस्तु नहीं है, सब कुछ माँ से ही मिला है। उसी प्रकार हमें भी सब कुछ उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से ही मिला है। अतः हमें उनकी दी हुई प्रत्येक वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य को उन्हीं से प्राप्त हुए विवेक-

पूर्वक उन्हीं को भेंट कर देना है तथा उनके विश्वास, प्रेम और सम्बन्ध को ही अपना अस्तित्व मानना है। ऐसा होते ही जो हमें प्रेम प्राप्त होता है, उसी प्राप्त प्रेम से हम उस अनन्त को रस प्रदान कर सकते हैं। जिस प्रकार माँ के द्वारा प्राप्त स्नेह से ही शिशु माँ को रस प्रदान करता है, उसी प्रकार हम शिशु की भाँति उस अनन्त के दिए हुए प्रेम से ही उन्हें आह्लादित कर सकते हैं; कारण, कि बिवेकयुक्त जीवन का निर्माण उनकी अनिर्वचनीय, अनुपम और अहैतुकी कृपाशक्ति ने उन्हें प्रेम प्रदान करने के लिए ही किया है।

इस दृष्टि से जीवन का मुख्य उद्देश्य प्रेम-प्राप्ति है। वह प्रेम तभी प्राप्त होगा, जब हम उनकी कृपा का आश्रय लेकर अपने को उन्हीं के समर्पित कर दें। इस बात के लिए चिन्तित न हों कि हम कैसे हैं! जैसे भी हैं उनके हैं; वे जैसे भी हैं अपने हैं। उनकी कृपा स्वयं हमें उनसे प्रेम करने के योग्य बना लेगी। हमें तो केवल उनकी कृपा को अपना लेना है। उनकी गुणमयी माया तो प्राणियों को मोहित करती है, परन्तु उनकी कृपाशक्ति स्वयं उन शक्तिमान् को मोहित कर देती है। अतः उनकी कृपा का आश्रय लेकर जो एक बार यह कह देता है कि, 'मैं तुम्हारा हूँ और तुम मेरे हो', बस, वे सदा के लिए उसके हो जाते हैं। यही इस जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ है।

(२०)

असङ्गता और प्रेम

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जिन मान्यताओं को हम अपने में स्वीकार कर लेते हैं, वे ही सीमित अहंभाव के स्वरूप में भासने लगती हैं। यदि हमने अपने को देह मान लिया, तो देह ही हमें अपना स्वरूप मालूम होने लगेगा, अर्थात् हम देह के अस्तित्व को ही अपना अस्तित्व मानने लगेंगे। उसी प्रकार जितनी ऐसी मान्यताएँ हैं, जिनकी अपने में अभेद-भाव से स्थापना कर ली जाती है, वे सभी हमें अपने अस्तित्व के रूप में मालूम होती हैं और हम अपने को सीमित मानकर अनेक प्रकार की ममताएँ उत्पन्न कर लेते हैं; क्योंकि जो सीमित है, उसे अपने को जीवित रखने के लिए वस्तु एवं व्यक्ति आदि की अपेक्षा हो जाती है। फिर वह उनकी दासता में आबद्ध हो जाता है और उनके नष्ट होने पर क्षुब्ध होने लगता है। वस्तु, व्यक्ति आदि के बने रहने पर अपने को अभिमानी बनाता है और मिटने पर दीन तथा अनाथ मानता है, अर्थात् दीनता और अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है।

सीमित अहंभाव अनेक प्रकार की मान्यताओं का समूह है और परिस्थिति अनेक प्रकार की ममताओं का केन्द्र है। यह नियम है कि अहंता के अनुरूप ही ममता उत्पन्न होती है।

अतः जैसा हमारा 'अहं' होता है, उसी के अनुरूप 'मम' होता है। 'अहं' और 'मम' का सम्बन्ध ही भोग है, जो अनेक प्रकार के रोग तथा शोक को उत्पन्न करता है।

भोग से विमुख होकर योग के सम्मुख होने के लिए यह जानना आवश्यक हो जाता है कि जिनसे हमारी ममता है, उन्हें क्या देना शेष है? यदि जो देना था, वह दे दिया और लेने की आशा का त्याग कर दिया है, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग 'योग' में बदल जाएगा। भोग जीवन की अस्वाभाविक अवस्था है और योग जीवन की स्वाभाविकता है। अस्वाभाविकता तो प्राणी को जड़ता, परतन्त्रता, शक्ति-हीनता आदि अनेक प्रकार के अभावों में आबद्ध करती है और स्वाभाविकता सामर्थ्य, चिन्मयता तथा स्वाधीनता की ओर गतिशील करती है। इस दृष्टि से भोग का योग में परिवर्तन करना अत्यन्त आवश्यक है; क्योंकि अस्वाभाविकता का विनाश स्वाभाविक है और स्वाभाविकता अविनाशी है।

अब यह देखना है कि सीमित अहंभाव का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि जिनसे हमारी ममता है, उनके अधिकारों का समूह और अपने अधिकार की लालसा ही सीमित अहंभाव है। किसी-न-किसी दृष्टि से सभी के प्रति हमारी ममता है, क्योंकि देह की ममता में ही सभी की ममताएँ निहित हैं और देह का विश्व से विभाजन हो नहीं सकता। अतः सभी के प्रति ममता स्वतः सिद्ध है।

इस दृष्टि से हमें क्रियात्मक रूप से और भावरूप से सभी के अधिकारों को सुरक्षित रखना है। क्रिया भले ही सीमित हो, पर भाव तो विभु हो ही सकता है। अतः

क्रियात्मक रूप से सेवा भले ही सीमित हो, पर किसी का भी बुरा न चाहना, इस भाव का विभु होना सम्भव है। यह नियम है कि जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसके हृदय में सभी का हित विद्यमान रहता है।

जिनसे ममता है, उनके अधिकार की रक्षा करने से ही उनके प्रति राग की निवृत्ति हो सकती है और अपने अधिकार के त्याग से ही उनसे असङ्गता हो सकती है। रागहित होकर जब हम सब ओर से विमुख हो जाते हैं, तब नित्य-योग स्वतः प्राप्त हो जाता है। राग-रहित होने से नीरसता नहीं आती, अपितु रस की वृद्धि होती है और विमुख होने से उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत सभी से वह एकता प्राप्त होती है, जो वास्तव में प्रीति है। 'प्रीति' लोभ, मोह और स्वार्थ की तो नाशक है, पर किसी वस्तु, व्यक्ति और सेवा की नहीं। प्रीति अनेकता की नाशक है, एकता की नहीं, भिन्नता की नाशक है, अभिन्नता की नहीं, जड़ता की नाशक है, चिन्मयता की नहीं, नीरसता की नाशक है, नित-नव रस की नहीं और पराधीनता की नाशक है, स्वाधीनता की नहीं। प्रीति अधिकार-लालसा को मिटाती है, दूसरों के अधिकार की रक्षा को नहीं।

इस दृष्टि से प्रीति सभी को अभीष्ट है। पर इसकी उपलब्धि तभी सम्भव है, जब नित्य-योग प्राप्त कर 'अहं' और 'मम' का अन्त कर दिया जाए। उसके लिए हमें सभी से विमुख होकर सभी से अभिन्न होना है। जिस प्रकार देह की आसक्ति से ही वस्तु, व्यक्ति आदि में आसक्ति उत्पन्न होती है, उसी प्रकार देह की विमुखता से वस्तु, व्यक्ति आदि की

आसक्ति मिट जाती है। अतः देह से विमुख होने पर ही हम सभी से विमुख होकर प्रीति प्राप्त करके सभी से अभिन्न हो सकते हैं। अभिन्नता प्रीति से होती है और विमुखता विवेक से। इस दृष्टि से विवेक प्रीति की जागृति में हेतु है। विवेक सभी साधकों को स्वभाव से ही प्राप्त है। अतः प्रीति की प्राप्ति में कोई परतन्त्र नहीं है।

दूसरों के अधिकार की रक्षा के बिना साधक जड़ता से विमुख होकर चिन्मय जीवन में प्रवेश नहीं कर सकता और अपने अधिकार के त्याग के बिना परिस्थितियों की दासता से मुक्त नहीं हो सकता। समस्त विश्व एक वस्तु है। उसमें जो हमें अपने व्यक्तित्व का भास होता है, वह 'अहं' और 'मम' का परिणाम है, और कुछ नहीं। उस व्यक्तित्व को मिटाने के लिए ही जो कुछ भी योग्यता, सामर्थ्य तथा वस्तु-रूप में प्राप्त है, उसे विश्व की भेंट कर देना है; क्योंकि वास्तव में वह उसी का है। विश्व की वस्तु विश्व को देकर साधक अपने को अनन्त की प्रीति बना लेता है। यह नियम है कि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को कभी नहीं देखा।

अधिकार-लालसा का जन्म क्यों होता है? अपने को देह मान लेने पर, जो अविवेकसिद्ध है। अविवेक से उत्पन्न हुई अधिकार-लालसा विवेक से स्वतः मिट जाती है। अब यदि कोई यह कहे कि देह को सुरक्षित रखने के लिए तो हमें कुछ लेना ही होगा। तो कहना होगा कि ऐसी धारणा भी देह की ममता ही सिद्ध करती है, और कुछ नहीं। देह तो स्वभाव से ही बदल रही है। अतः उसको स्थिर बनाए रखने की लालसा कुछ अर्थ नहीं रखती। यह नियम है कि जिससे

अपनी ममता न हो और जिसका उपयोग सभी के हित में हो, उसको सभी अपना मान लेते हैं।

अत: जब हमारी देह में ममता न रहेगी और देह का उपयोग सभी के हित में होगा, तब सभी उस देह को अपनी देह के समान सुरक्षित रखने का प्रयत्न करेंगे। उस समय लेना भी देना बन जाएगा। देह आदि वस्तुओं से ममता करके देना भी 'लेना' हो जाता है, क्योंकि उससे प्राणी उन मान, बड़ाई, पद-लोलुपता आदि में आबद्ध हो जाते हैं, जो चिन्मय जीवन से विमुख कर देते हैं। अत: देह आदि की ममता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

ममतारहित होते ही लेने का तो प्रश्न ही नहीं रहता, केवल देना-ही-देना रह जाता है। वह भी कब तक ? जब तक सर्वस्व नहीं दे दिया जाता। अत: देह की ममता का त्याग करके साधक लेना बन्द कर देता है और सर्वस्व देकर देने से मुक्त हो जाता है। सर्वस्व देते ही साधक दिव्य चिन्मय प्रीति से अभिन्न हो जाता है। फिर प्रीति होकर अनेक रूपों में, अनेक परिस्थितियों में अपने प्रीतम को ही लाड़ लड़ाता है, अथवा यों कहो, कि नित-नव रस की वृद्धि करता है, क्योंकि प्रीति रसरूप है।

अब यदि कोई यह कहे कि हम उस अनन्त की तो प्रीति होना चाहते हैं, पर इस भौतिक जगत् की, जिसमें अनेक दोष दिखाई देते हैं, प्रीति कैसे हो सकते हैं ? तो कहना होगा कि जब प्रीति से अभिन्नता हो जाती है, तब समस्त भौतिक जगत् उस अनन्त की ही अभिव्यक्ति प्रतीत होता है,

उसके बाद यह प्रश्न शेष नहीं रहता कि हम किसकी प्रीति हैं। प्रीति तो सभी की प्रीति है। पर यह अवश्य है कि वह किसी परिस्थिति आदि में आबद्ध नहीं है, सीमित नहीं है, विनाशी नहीं है; नित-नव है, दिव्य है, चिन्मय है और उसकी दृष्टि में प्रीतम से भिन्न कुछ नहीं है। क्योंकि प्रेम के साम्राज्य में प्रेमास्पद से भिन्न कुछ हुआ ही नहीं।

प्रेम के साम्राज्य में उन्हीं का प्रवेश होता है, जो विवेकपूर्वक अपने को कर्म, चिन्तन और स्थिति आदि से असङ्ग कर लेते हैं। इस दृष्टि से प्रेम का साम्राज्य समाधि से अतीत है, जहाँ जड़ता, विषमता और भिन्नता का लेश नहीं है, केवल प्रीति और प्रीतम का ही ऐसा नित-नव दिव्य तथा चिन्मय विलास है, जिसमें अगाध और अनन्त रस निहित है।

(२१)

दोषों का मूल—असावधानी

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि साधक के जीवन में प्राकृतिक नियम के अनुसार न तो न जानने का दोष है और न जाने हुए के अनुरूप जीवन बनाने के लिए सामर्थ्य का अभाव ही है, अर्थात् साधन की मूल सामग्री तो साधक को प्राप्त ही है। उसके सदुपयोग न करने में साधक की ही असावधानी है, जो उसका अपना बनाया हुआ दोष है। अपने बनाए हुए दोष के मिटाने का दायित्व अपने पर ही है, किसी और पर नहीं। प्राप्त के सदुपयोग को ही 'साधन' कहते हैं। इस दृष्टि से साधन करने में साधक सर्वथा स्वाधीन है। साधन में पराधीनता की अनुभूति केवल साधक की असावधानी से ही उत्पन्न होती है।

यदि साधक में न जानने का दोष होता, तो न तो उसे अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान होता और न दूसरों से भलाई की आशा होती। जब हम बुराई को बुराई जानते हैं, तभी तो अपने प्रति होने वाली बुराई 'बुराई' मालूम होती है और जब हम भलाई को भलाई जानते हैं, तभी तो अपने प्रति दूसरों से भलाई की आशा करते हैं। हमसे सबसे बड़ी असावधानी यही होती है कि जानी हुई भलाई को दूसरों के प्रति नहीं करते, अपितु जानी हुई बुराई को दूसरों के प्रति करने लगते हैं। कर्म विज्ञान के अनुसार दूसरों के प्रति की

हुई भलाई-बुराई अपने प्रति हो जाती है। इस दृष्टि से हम स्वयं अपनी अवनति अपने आप कर लेते हैं, क्योंकि दूसरों के अहित में अपनी अवनति निहित है।

अब बिचार यह करना है कि हम बुराई को बुराई जानते हुए बुराई क्यों करते हैं ? तो कहना होगा कि इन्द्रिय-ज्ञान में और बुद्धि के ज्ञान में जो द्वन्द्व है, उसी के कारण हम बुराई को बुराई जानकर भी उसका त्याग नहीं कर पाते। जिस काल में बुद्धि का ज्ञान इन्द्रियों के ज्ञान पर विजयी हो जाता है, उसी काल में द्वन्द्व मिट जाता है, उसके मिटते ही बुराई का त्याग स्वतः हो जाता है और भलाई अपने आप होने लगती है, क्योंकि बुराई को तो किया जाता है और भलाई स्वतः होती है।

इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग राग उत्पन्न करता है। राग से भोग में प्रवृत्ति स्वाभाविक होने लगती है। भोग-प्रवृत्ति से अनेक दोष उत्पन्न होते हैं और भोग के परिणाम में भयंकर दुःख, अभाव, जड़ता एवं पराधीनता आ जाती है, जो किसी को अभीष्ट नहीं है।

इन्द्रिय-ज्ञान के सदुपयोग से राग की वास्तविकता का परिचय होता है और विश्व के सौन्दर्य को देखकर उसके रचयिता की जिज्ञासा तथा लालसा जागृत् होती है। परन्तु हम असावधानी के कारण वस्तु, व्यक्ति आदि के सीमित परिवर्तनशील सौन्दर्य को देखकर आसक्त हो जाते हैं और इन्द्रिय-ज्ञान का दुरुपयोग करने लगते हैं, यही अवनति का मूल है। इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान का सदुपयोग राग को

अनुराग में परिवर्तित करके साधक को विश्व के रचयिता की ओर गतिशील होने की प्रेरणा देने में समर्थ है।

इन्द्रिय-ज्ञान तो वस्तु, व्यक्ति आदि में सीमित तथा परिवर्तनशील सौन्दर्य का दर्शन कराता है और बुद्धि का ज्ञान अन्य वस्तुओं की तो कौन कहे, अपने शरीर में क्षणभंगुरता एवं मलिनता का दर्शन करता है। यदि बुद्धि के ज्ञान का अनादर न किया जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक काम का अन्त हो जाता है, जो अनन्त नित्य सौन्दर्य की लालसा जागृत् करने में समर्थ है, क्योंकि काम का उद्गम स्थान अपने शरीर की सुन्दरता और सत्यता की प्रतीति में है, जो वास्तव में है नहीं। इस दृष्टि से इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान का सदुपयोग किया जाए तो उनका द्वन्द्व मिट सकता है, जिसके मिटते ही समस्त बुराइयों का अन्त हो जाएगा और भलाई स्वतः होने लगेगी। अथवा यों कहो कि जो नहीं करना चाहिए, उसकी निवृत्ति हो जाएगी और जो करना चाहिए, वह स्वतः होने लगेगा। यही वास्तविक साधन है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार इन्द्रिय-ज्ञान सेवा के लिए मिला है, सुख-भोग के लिए नहीं और बुद्धि का ज्ञान त्याग के लिए मिला है, विवाद के लिए नहीं। सेवा से त्याग की पुष्टि होती है और त्याग से प्रेम की प्राप्ति होती है। सभी साधनों की परावधि त्याग में और त्याग की परावधि प्रेम में निहित है। साधन-दृष्टि से तो इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान, दोनों का उपयोग एक ही उद्देश्य की पूर्ति में निहित है।

सुख सेवा के लिए है, भोग के लिए नहीं और दुःख विवेक का आदर करने के लिए है, भयभीत होने के लिए

नहीं। परिवर्तनशील जीवन की समस्त परिस्थितियाँ सुख तथा दुःख के स्वरूप में ही प्रतीत होती हैं। इस दृष्टि से प्रत्येक परिस्थिति साधन रूप है। परन्तु हम अपनी असावधानी से सुख-दुःख का सदुपयोग नहीं कर पाते। इस कारण प्राप्त परिस्थिति हमारे लिए साधन रूप नहीं हो पाती, अपितु साधन में बाधक प्रतीत होती है। परन्तु यह बात वास्तव में है नहीं, क्योंकि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। प्राकृतिक न्याय में सभी का हित है, किसी का अहित नहीं। अतः साधन-दृष्टि से सभी परिस्थितियाँ समान अर्थ रखती हैं। इस दृष्टि से हमें प्राप्त परिस्थिति में ही साधन का निर्माण करना चाहिए।

साधन से न तो निराश होना चाहिए और न हार ही स्वीकार करनी चाहिए। जो साधक साधन करने से निराश नहीं होता और हार स्वीकार नहीं करता, वह अवश्य सिद्धि पाता है। असफलता का कारण एकमात्र साधन से निराश होना और हार स्वीकार करना है, जो साधक की अपनी ही असावधानी है।

साधन का आरम्भ सेवा और त्याग से होता है और अन्त प्रेम में। साधक का अस्तित्व बीज रूप से साधन-तत्त्व ही है, और कुछ नहीं। अर्थात् साधक विकसित होकर साधन-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है। इस दृष्टि से साधन-तत्त्व से भिन्न साधक का और कोई अस्तित्व ही नहीं है। जब यह समझ में आ जाता है कि साधन-तत्त्व ही साधक का अस्तित्व है, तब साधक का समस्त जीवन सेवा होकर त्याग में और त्याग होकर प्रेम में विलीन

हो जाता है। अथवा यों कहो कि बीजरूप साधन-तत्त्व जो साधक का अस्तित्व हैं, वह सर्व प्रथम सेवा रूपी वृक्ष के स्वरूप में विकसित होता है, उस पर वह त्याग रूपी फल लगता है, जिसमें प्रेम रूपी रस भरा है। उस रस की माँग अन्य किसी की तो बात ही क्या, अनन्त को भी है।

साधन के आरम्भ में जो सेवक है, वही मध्य में त्यागी है और अन्त में प्रेमी है। असाधनकाल में जो स्वार्थी है, वही रागी है और वही मोही है। अथवा यों कहो कि स्वार्थ रूपी भूमि में ही राग रूपी वृक्ष उपजता है, जिस पर वह मोह रूपी फल लगता है, जिसका परिणाम भयंकर और दुःखद है।

स्वार्थ की उत्पत्ति का मूल कारण प्राप्त विवेक का अनादर है, और कुछ नहीं; अथवा यों कहो कि इन्द्रिय-ज्ञान और बुद्धि-ज्ञान का दुरुपयोग है। इस दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि साधन-काल में न तो सामर्थ्य का अभाव है और न, न जानने का ही दोष है; केवल साधन करने की लालसा की न्यूनता है, जो साधक के जीवन को साधन रूप नहीं बनने देती।

साधन की लालसा सबल और स्थाई नहीं होती, इसका एकमात्र कारण यह है कि साधक जो कुछ जानता है, उसे मानता नहीं; यदि मान भी लेता है, तो उसके अनुरूप जीवन नहीं बनाता। यह साधक की अपनी ही असावधानी है।

जो साधक अपने ज्ञान का आदर नहीं करता, वह गुरु और ग्रन्थ के ज्ञान का भी आदर नहीं कर सकता। जैसे, जो नेत्र के प्रकाश का उपयोग नहीं करता, वह सूर्य के प्रकाश का भी उपयोग नहीं कर पाता; उसी प्रकार जो साधक प्राप्त

विवेक और बल का उपयोग नहीं कर पाता, वह किसी अन्य के दिए हुए बल और विवेक का भी उपयोग नहीं कर सकता। अतः यह निश्चित है कि प्राप्त विवेक के आदर और प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही साधन का निर्माण हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि साधन का क्रम क्या होना चाहिए ? तो कहना होगा कि सेवा करते हुए त्याग का सम्पादन करना चाहिए और त्याग को प्रेम में बदलने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब सेवा करने पर न तो सेवा का अभिमान हो और न सेवक कहलाने की रुचि ही। निरभिमानतापूर्वक की हुई सेवा स्वतः त्याग में बदल जाती है। त्याग का फल चिर-शान्ति और अमरत्व की प्राप्ति है। जब साधक शान्ति के रस में आबद्ध नहीं होता, तब त्याग प्रेम में बदल जाता है। सेवा, त्याग और प्रेम के साथ अहंभाव नहीं रहना चाहिए। ऐसा होने पर सेवा त्याग में और त्याग प्रेम में स्वतः विलीन हो जाता है अर्थात् सेवा, त्याग और प्रेम तो हो, पर सेवक, त्यागी और प्रेमी न हो। अथवा यों कहो कि सेवक 'सेवा' होकर त्याग; त्यागी 'त्याग' होकर और प्रेमी 'प्रेम' होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाए। यही वास्तविक जीवन है।

(२२)

गुण, दोष और उनकी निवृत्ति

वर्तमान जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण-दोष का समूह ही जीवन है। गुणों को सीमित कर देने पर दोष भासने लगते हैं। परन्तु वास्तव में मानव का लक्ष्य गुण और दोष से अतीत बास्तविक जीवन को प्राप्त करना है। उसके लिए गुण और दोष के द्वन्द्व का अन्त करना होगा। यह तभी सम्भव है, जब दोष की उत्पत्ति न हो और गुणों का अभिमान गल जाए। उसके लिए प्राप्त विवेक के प्रकाश में वर्तमान वस्तुस्थिति का अध्ययन करना अनिवार्य है।

अब विचार यह करना है कि गुण और दोष के द्वन्द्व का अन्त कैसे हो? तो कहना होगा कि गुण और दोष के स्वरूप को जान लेने पर ही द्वन्द्व का अन्त हो सकता है। सभी को सुख देने के प्रयास को गुण कहते हैं; किन्तु केवल एक ही शरीर को सुखी रखने का प्रयास किया जाए, तो वह दोष हो जाता है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि गुण को सीमित कर देना दोष हो जाता है। जिस प्रकार प्रकाश की न्यूनता ही अन्धकार है, अन्धकार का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है; उसी प्रकार गुण की न्यूनता ही दोष है, दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। यदि दोष का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता,

तो वह मिट ही नहीं सकता था। मिटाना उसी को है, जो मिट सकता है और मिट वही सकता है, जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, अपितु जो किसी कारण से प्रतीत होता हो।

ज्ञान की न्यूनता 'अज्ञान', प्रेम की न्यूनता 'द्वेष,' त्याग की न्यूनता 'राग' और उदारता की न्यूनता 'लोभ' है। यद्यपि गुण और दोष अनेक नहीं हैं, परन्तु एक ही गुण स्थान-भेद से अनेक गुणों के रूप में और एक ही दोष स्थान-भेद से अनेक दोषों के रूप में प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि मौलिक गुण और दोष क्या हैं? तो कहना होगा कि सभी दोष अविवेक में और सभी गुण विवेक में विद्यमान हैं। अतः गुण और दोष का द्वन्द्व मिटाने के लिए विवेक रूपी प्रकाश में अविवेकरूपी अन्धकार का अन्त करना अनिवार्य है।

गुण और दोष का द्वन्द्व मिटते ही दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी और गुणों का अभिमान न रहेगा। गुणों का अभिमान गलते ही सीमित अहंभाव मिट जाएगा, जिसके मिटते ही सब प्रकार के अभाव का अभाव हो जाएगा, जो वास्तविक जीवन है।

गुणों की पूर्णता में अभिमान का उदय नहीं होता। अभिमान का उदय तो तभी होता है, जब आंशिक गुण हों। आंशिक गुण में दोष की उपस्थिति का होना अनिवार्य है। वास्तविक निर्दोषता आ जाने पर न तो दोष की उत्पत्ति ही होती है और न गुणों का अभिमान ही रहता है।

सभी दोष अविवेक के कार्य हैं। अब विचार यह करना

है कि अविवेक क्या है ? तो कहना होगा कि अविवेक केवल विवेक का अनादर है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इस कारण विवेक के आदर में ही अविवेक का विनाश है। जिस प्रकार प्रकाश होने पर अन्धकार का दर्शन नहीं होता, उसी प्रकार विवेक का आदर करने पर सीमित अहं-भाव रूपी अन्धकार, जो अविवेक है, स्वतः मिट जाता है। उसके मिटते ही समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं; क्योंकि जिस भूमि में दोष निवास करते थे, वह भूमि ही शेष नहीं रहती।

अब विचार यह करना है कि विवेक का आदर क्या है ? तो कहना होगा कि 'यह' को 'मैं' न मानना ही विवेक का आदर है, जिसके करते ही सीमित अहंभाव मिट जाता है। जिस प्रकार सूर्य का उदय और अन्धकार की निवृत्ति युगपत् है, उसी प्रकार विवेक का आदर और अविवेक की निवृत्ति युगपत् है। 'यह' को 'मैं' न मानने पर सभी दोष मिट जाते हैं, जिनके मिटते ही स्वतः दिव्य गुण प्रकाशित होते हैं; क्योंकि 'यह' को 'मैं' न मानने से कामनाओं का अन्त हो जाता है और कामनाओं की निवृत्ति में ही जिज्ञासा की पूर्ति निहित है। कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होते ही सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती, क्योंकि सभी कामनाओं का उद्गम स्थान जो 'यह' को 'मैं' मानना था, वह शेष नहीं रहा।

अब यदि कोई यह कहे कि कामना-रहित होने पर क्या जिज्ञासा के आधार पर सीमित अहं नहीं रह सकता ? तो कहना होगा कि कदापि नहीं; क्योंकि जिज्ञासा उसी की होती है, जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो उत्पत्ति-

विनाशयुक्त नहीं है। जिससे देश-काल की दूरी नहीं है और जो अविनाशी है, उसकी जिज्ञासा उसी में विलीन हो जाती है, यह प्राकृतिक विधान है। अतः कामनाओं की निवृत्ति और जिज्ञासा की पूर्ति होने पर सीमित अहं का अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह नियम है कि सीमित अहं के मिटते ही 'मम' मिट जाता है तथा 'अहं' और 'मम' के नाश होते ही सीमित प्रीति अर्थात् सब प्रकार की आसक्तियाँ मिट जाती हैं, जिनके मिटते ही सभी दोष मिट जाते हैं। फिर गुण और दोष का द्वन्द्व नहीं रहता।

कामनाओं की निवृत्ति में चिर-शान्ति और सामर्थ्य, जिज्ञासा की पूर्ति में अमरत्व और समस्त आसक्तियों की निवृत्ति में दिव्य चिन्मय प्रीति निहित है।

यद्यपि दिव्य चिन्मय प्रीति बीजरूप से सभी में विद्यमान है; परन्तु वह अविवेक से आच्छादित हो जाती है, अविवेक उसका विनाश नहीं कर सकता। इसी कारण प्राणिमात्र में किसी-न-किसी रूप में प्रीति रहती है, जैसे हिंसक प्राणी भी अपने शरीर से और अपने बच्चों से प्रीति करते हैं। प्रीति की न्यूनता में ही लोभ, मोह, आसक्ति, जड़ता एवं हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं और प्रीति की व्यापकता में ही निर्मोहता, निर्लोभता, अनासक्ति, चिन्मयता आदि दिव्य गुणों का प्रादुर्भाव होता है।

इस दृष्टि से सभी दोषों का मूल, 'प्रीति की न्यूनता' और सभी दिव्य गुणों के प्रादुर्भाव का हेतु, 'प्रीति की अनन्तता' है। प्रीति न तो किसी कर्म का फल है और न अभ्यास का ही;

क्योंकि कर्म का फल नित्य नहीं हो सकता और प्रीति नित्य-तत्त्व है। अभ्यास अनन्त नहीं हो सकता, श्रमरहित नहीं हो सकता, अहंरहित नहीं हो सकता; परन्तु प्रीति श्रमरहित है, अहंरहित है, अनन्त है, और दिव्य चिन्मय है। इस दृष्टि से प्रीति की सिद्धि न किसी कर्म का फल है और न अभ्यास का।

अब विचार यह करना है कि प्रीति किसका फल है? तो कहना होगा कि प्रीति किसी का फल नहीं है, अपितु अनन्त का स्वभाव है। अविवेक के कारण प्रीति ढंकी-सी रहती है, जो विवेक का आदर करते ही ज्यों-की-त्यों स्वतः जागृत् हो जाती है; क्योंकि अविनाशी का स्वभाव भी विनाशरहित होता है।

यद्यपि कामना-निवृत्ति विवेक सिद्ध है; परन्तु विवेक का आदर करने में स्वाभाविक प्रियता इसलिए नहीं होती कि कामना-अपूर्ति के दुःख और कामना-पूर्ति के सुख के आक्रमणों से प्राणी क्षुब्ध रहता है। इस कारण विवेक का आदर करने में वह अस्वाभाविकता प्रतीत होने लगती है, जो वास्तविक नहीं है।

यदि साधक सुख-दुःख के आक्रमणों से क्षुब्ध न हो, अपितु दुःख को हर्षपूर्वक सहन कर ले और सुख का उदारता-पूर्वक सद्व्यय करने लगे, तो विवेक का आदर करने की सामर्थ्य स्वतः आ जाए। अतः विवेक का आदर करने के लिए सब प्रकार के क्षोभ से रहित होना परम आवश्यक है।

सुख-दुःख अपने-आप आने-जाने वाली वस्तुएँ हैं, रहने

वाली नहीं। यह भाव दृढ़ होते ही दुःख को हर्षपूर्वक सहन करने की और सुख का सद्व्यय करने की योग्यता स्वतः आ जाती है। सुख-दुःख का सदुपयोग करते ही विवेक का आदर स्वाभाविक हो जाता है।

विवेक के आदर में, अर्थात् अविवेक की निवृत्ति में चिर-शान्ति, अमरत्व और प्रेम स्वतः सिद्ध है। जिस प्रकार काष्ठ में विद्यमान अग्नि उससे प्रकट होकर उसी को भस्म कर देती है, उसी प्रकार प्रेमी में उत्पन्न हुआ 'प्रेम', जिज्ञासु में उत्पन्न हुआ 'ज्ञान' और योगीमें उत्पन्न हुआ 'योग' प्रेमी, जिज्ञासु एवं योगी को भस्म करके प्रेम, ज्ञान और योग से अभिन्न कर देता है, जो उस अनन्त की विभूतियाँ हैं।

अहं भाव के रहते हुए योग, ज्ञान और प्रेम में भले ही भिन्नता प्रतीत होती हो, परन्तु अहं के गलते ही वह अभिन्नता में परिवर्तित हो जाती है; अर्थात् योग, ज्ञान और प्रेम का विभाजन नहीं हो सकता। ये सब उस एक ही जीवन में हैं, जिसकी प्राप्ति गुण और दोष का द्वन्द्व मिटने पर अहंभाव के गलते ही स्वतः सिद्ध है।

साधनरूप मान्यताएं

जीवन के अध्ययन से यह स्पष्ट विदित होता है कि सभी को अपना मान लेने में, किसी एक को ही अपना मान लेने में, अथवा किसी को भी अपना न मानने में जीवन की सार्थकता निहित है।

सभी को अपना मान लेने पर स्वार्थ भाव गल जाता है, उसके गलते ही राग-द्वेष मिट जाते हैं और त्याग तथा प्रेम स्वभाव से ही उदित हो जाते हैं। त्याग से अमरत्व और प्रेम से अगाध रस की उपलब्धि होती है, जो सभी को अभीष्ट है।

किसी एक को ही अपना मान लेने पर अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध, अनेक चिन्तन टूट जाते हैं। प्रत्येक कार्य मोहरहित एवं उसी एक के नाते होने लगते हैं। कार्य के अन्त में उसी अनन्त की वह प्रीति स्वतः जागृत होती है, जो उससे अभिन्न करने में समर्थ है; क्योंकि प्रीति दूरी तथा भेद को शेष नहीं रहने देती।

किसी को भी अपना न मानने से जीवन ही में मृत्यु अनुभव होता है, अर्थात् सब ओर से निराशा हो जाती है, जिसके होते ही प्राणी सब ओर से विमुख होकर अपने ही में प्रेमास्पद को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

उपर्युक्त सभी मान्यताएँ साधनरूप हैं। यह नियम है कि मान्यताओं का भेद तभी तक रहता है, जब तक मान्यता के अनुरूप साधक का जीवन नहीं हो जाता। साधक और साधन में अभिन्नता हो जाने पर सभी साधनरूप मान्यताओं का परिणाम एक ही होता है; क्योंकि सभी साधकों की वास्तविक आवश्यकता एक है। केवल योग्यता-भेद होने के कारण साधन निर्माण के लिए ही मान्यताओं का भेद है। जिस प्रकार आरोग्य सभी रोगियों का एक है, पर रोगों का भेद होने के कारण चिकित्सा में भेद रहता है, उसी प्रकार साधकों की योग्यता में भेद होने के कारण साधनरूप मान्यताओं का ही भेद रहता है, साध्य का नहीं।

सभी को अपना न मानने पर राग-द्वेष आदि अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं; कारण, कि जिन्हें हम अपना मान लेते हैं, उनसे राग होता है। यह नियम है कि किसी का राग ही किसी का द्वेष बन जाता है, क्योंकि सभी दोष द्वन्द्वात्मक होते हैं।

अब यह विचार करना है कि हम सभी को अपना क्यों नहीं मानते हैं? तो कहना होगा कि सुख-भोग की आसक्ति के कारण हम सभी को अपना नहीं मान पाते क्योंकि काम ही भेद को उत्पन्न करता है, जो अविवेकसिद्ध है।

किसी एक को ही अपना न मानने से अनेक विश्वास, अनेक सम्बन्ध, अनेक चिन्तन उत्पन्न हो जाएंगे। अनेक विश्वास सदैव संदेहयुक्त होते हैं। अतः अनेक विश्वासों के रहते हुए निःसंदेहता नहीं आएगी। निःसंदेहता के बिना किसी कार्य को सुचारुरूप से नहीं कर सकेंगे। उसके बिना परिस्थिति

का सदुपयोग सम्भव नहीं है। परिस्थितियों का सदुपयोग किए बिना न तो उत्कृष्ट परिस्थिति प्राप्त होगी, न परिस्थितियों की दासता से मुक्त हो सकेंगे और न परिस्थितियों से अतीत के जीवन की उपलब्धि ही होगी ।

इस दृष्टि से अनेक विश्वास अनेक दोष उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अनेक विश्वास के कार्य अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तन हैं। अनेक चिन्तन सार्थक चिन्तन को और अनेक सम्बन्ध नित्य-योग को जागृत् नहीं होने देते।

नित्य-योग के बिना चिर-शान्ति और अमरत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती तथा सार्थक-चिन्तन के बिना न तो व्यर्थ-चिन्तन मिट सकता है और न प्रीति की जागृति ही होती है। प्रीति के बिना प्रीतम से अभिन्नता और नित-नव रस की उपलब्धि सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से अनेक विश्वास अनेक सम्बन्ध और अनेक चिन्तनों का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। उन सबका अन्त तभी हो सकता है, जब हम किसी एक के ही होकर रहें, क्योंकि एक का होकर रहने से ही नित्य-योग की उपलब्धि एवं प्रीति की जागृति होगी।

'समस्त विश्व एक जीवन है', इसका अनुभव उन्हीं को हो सकता है, जो इन्द्रियों के अल्पज्ञान को ही ज्ञान न मानकर बुद्धि के ज्ञान से समस्त विश्व को जानने का प्रयत्न करते हैं। जिस प्रकार लहर और समुद्र का विभाजन नहीं हो सकता, उसी प्रकार शरीर और विश्व का विभाजन नहीं हो सकता। सभी नेत्र एक ही सूर्य से प्रकाश पाते हैं, सभी श्रोत्र एक ही आकाश से शब्द सुनते हैं इत्यादि। अर्थात् समष्टि शक्तियों

से ही शरीर की सीमित शक्तियाँ कार्य करती हैं और समष्टि के अस्तित्व में ही शरीर का अस्तित्व निहित है। विश्व की एकता का ज्ञान ही सभी को अपना मानने की प्रेरणा देता है।

अब विचार यह करना है कि किसी एक को ही अपना मानने की प्रेरणा कहाँ से मिलती है? इस पर कहना होगा कि समस्त विश्व की पर-प्रकाश्यता एवं इसके सतत परिवर्तन का ज्ञान किसी स्वयं प्रकाश एवं अपरिवर्तन-शीलता की लालसा जागृत करता है। उसी लालसा के आधार पर किसी एक को अपना मानने की प्रेरणा मिलती है। अथवा यों कहो कि प्रेम का आदान-प्रदान करने के लिए किसी एक नित्य साथी की आवश्यकता स्वाभाविक है, उसके आधार पर भी किसी एक का होकर रहने की प्रेरणा मिलती है।

निज-विवेक के प्रकाश में समस्त विश्व काल-रूप अग्नि में जलता हुआ प्रतीत होता है, तब नित्य-जीवन की जिज्ञासा स्वतः जागृत होती है। उसी जिज्ञासा के आधार पर सभी से विमुख होने की प्रेरणा मिलती है, जो किसी का होकर नहीं रहने देती, अर्थात् वह मृत्यु से अमरत्व की ओर तथा असत् से सत् की ओर गतिशील करने में समर्थ है। जीवन के अध्ययन से प्राप्त प्रेरणा का आदर न करने पर साधन का निर्माण सम्भव ही नहीं है और साधन-निर्माण के बिना साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से प्राप्त प्रेरणा का आदर करना अनिवार्य है।

साधनरूप मान्यताएँ तथा प्रेरणाएँ सभी आदरणीय हैं। उनमें-से किसी भी मान्यता और प्रेरणा के अनुरूप साधन-

निर्माण कर सकते हैं। साधन करने में असमर्थता नहीं है, अपितु असावधानी है, जो साधन की रुचि जागृत होने पर मिट सकती है।

यद्यपि बीजरूप से साध्य की लालसा प्रत्येक साधक में विद्यमान् है; परन्तु अस्वाभाविक इच्छाओं ने उस लालसा को ढक रखा है। अतः अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति एवं स्वाभाविक लालसा की जागृति के लिए निज-ज्ञान का आदर करना अनिवार्य हो जाता है। अथवा यों कहो कि जाने हुए असत् के त्याग से अस्वाभाविक इच्छाओं की निवृत्ति और स्वाभाविक लालसा की जागृति स्वतः हो जाती है, जो साधन-निर्माण करने में समर्थ है।

साधन-निर्माण वर्तमान जीवन की वस्तु है, उसके लिए भविष्य की आशा करना भूल है; क्योंकि जो कार्य वर्तमान में करने का है, उसे वर्तमान ही में करना चाहिए। साधन का आरम्भ अहं के परिवर्तन से होता है। जिस प्रकार अपने को विद्यार्थी मान लेने पर अध्ययन का आरम्भ होता है, उसी प्रकार अपने को साधक मान लेने पर साधन का आरम्भ होता है। जो अपने को साधक मानता है, वह अपने को देह नहीं मान सकता। अपने को देह न मानने से विषयासक्ति स्वतः मिटने लगती है। उसके मिटते ही साधक की मान्यता के अनुरूप उस साधन का उदय स्वतः हो जाता है, जो साधक को साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है और जिसमें जीवन की वास्तविकता निहित है।

(२४)

अस्वाभाविकता और उसकी निवृत्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि अस्वाभाविकता ही असमर्थता, अभाव तथा प्रमाद में आबद्ध करती है। अब विचार यह करना है कि अस्वाभाविकता का स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि अनन्त से विभाजित हो जाना ही अस्वाभाविकता है, अर्थात् अपने प्रिय से भिन्न भी कोई और है, ऐसी मान्यता ही वास्तव में प्रमाद है। इस प्रमाद से ही चाह की उत्पत्ति हुई है और अनेक प्रकार के अभाव प्रतीत होने लगे हैं, जिनके कारण प्राणी पराधीनता और असमर्थता में आबद्ध हो गए हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि जो स्वतः होना चाहिए, उसे भी वे नहीं कर पाते।

अब विचार यह करना है कि स्वतः क्या होना चाहिए? तो कहना होगा कि योग, ज्ञान और प्रेम—ये तीनों स्वतः होने चाहिए; क्योंकि इनके लिए किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। वस्तु की चाह लोभ उत्पन्न करती है, अवस्था की चाह जड़ता उत्पन्न करती है और किसी परिस्थिति की चाह सीमित बनाती है, अथवा यों कहो कि मोह में आबद्ध करती है। परन्तु जिसकी प्राप्ति के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं है, उसकी प्राप्ति तो स्वाभाविक होनी चाहिए। इस दृष्टि से योग, ज्ञान और प्रेम वर्तमान की वस्तुएँ

हैं और स्वभावसिद्ध हैं । जो स्वभावसिद्ध हैं, उनके लिए हम अस्वाभाविक साधनों को अपनाते हैं, यही प्रमाद हैं ।

अब अस्वाभाविक और स्वाभाविक साधनों पर विचार करना है । संकल्प-निवृत्ति की अपेक्षा संकल्प-पूर्ति अस्वाभाविक है । अत: जो साधन संकल्पपूर्ति के आधार पर होते हैं, वे सभी अस्वाभाविक हैं; क्योंकि संकल्प की उत्पत्ति अविवेकसिद्ध है। अत: उनकी पूर्ति के आधार पर किया हुआ साधन स्वाभाविक हो ही नहीं सकता । अब यदि कोई यह कहे कि संकल्प-निवृत्ति की साधना कैसे स्वाभाविक है ? तो कहना होगा कि संकल्प की उत्पत्ति और पूर्ति से पूर्व जो जीवन है, क्या उसमें कोई अस्वाभाविकता है ? कदापि नहीं । अत: संकल्प निवृत्ति की साधना ही स्वाभाविक साधना है । संकल्प-उत्पत्ति से पूर्व किसी प्रकार का भेद तथा किसी प्रकार का अभाव सिद्ध नहीं होता । अभाव का अभाव होने पर योग, ज्ञान, प्रेम स्वत: सिद्ध है । अभाव ही भोग की उस रुचि को उत्पन्न करता है, जो योग नहीं होने देती; अभाव ही उस भेद को उत्पन्न करता है, जो ज्ञान नहीं होने देता और अभाव ही उस भिन्नता को उत्पन्न करता है, जो प्रेम नहीं होने देती ।

अभाव का अभाव करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि संकल्प-पूर्ति की दासता से और संकल्प-निवृत्ति के अभिमान से अपने को मुक्त कर लिया जाए; अर्थात् चाह की उत्पत्ति न हो और अचाह हो जाने का अभिमान भी न हो; क्योंकि जिस गुण के साथ अहं मिल जाता है, वह गुण भी दोष हो जाता है ।

चाह की उत्पत्ति का मूल, अपने में देहभाव को स्वीकार करना है। अथवा यों कहो कि अपना सीमित अस्तित्व स्वीकार करना ही चाह का उद्गम स्थान है। देह का सृष्टि से विभाजन नहीं हो सकता और सृष्टि अपने प्रकाशक से भिन्न नहीं हो सकती। हाँ, यह हो सकता है कि सृष्टि अपने प्रकाशक के सर्वांश में न होकर किसी एक अंश में हो। जिस प्रकार कोई भी लहर समुद्र से विभाजित नहीं हो सकती और केवल लहरों को ही समुद्र नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार न तो सृष्टि को ही प्रकाशक कहा जा सकता है और न सृष्टि अपने प्रकाशक से भिन्न ही हो सकती है। इस दृष्टि से हम सभी उसी प्रकाशक की अभिव्यक्ति मात्र हैं, और कुछ नहीं।

अब यदि हम अपने सीमित अस्तित्व को, जो वास्तव में नहीं है, उस अनन्त को समर्पित कर दें, जिसकी हम अभिव्यक्ति हैं, तो वर्तमान में ही चाह-अचाह के जाल से मुक्त हो सकते हैं। चाह से मुक्त होते ही बन्धन टूट जाते हैं, पराधीनता मिट जाती है, शक्तिहीनता शेष नहीं रहती और अचाह का अभिमान गलते ही अभिन्नता आ जाती है, जो दिव्य चिन्मय प्रीति प्रदान करने में समर्थ है। प्रीति का उदय होते ही न तो अरुचि-जैसी कोई वस्तु शेष रहती है और न किसी प्रकार का श्रम रहता है। अरुचि तथा श्रम का अन्त होते ही अस्वाभाविकता मिट जाती है, उसके मिटते ही प्रीति और प्रीतम का नित-नव मिलन अनेक प्रकार से होता रहता है, जो रसरूप है, दिव्य है और चिन्मय है।

अब यदि कोई पूछे कि क्या जीवन में श्रम तथा अरुचिका कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि श्रम

का स्थान आलस्य मिटाने में है, प्रिय के पाने में नहीं। अरुचि का स्थान सुख-भोग के त्याग में है, प्रीति के उदय में नहीं। इतना ही नहीं, अरुचि ही वास्तव में अनेक रुचियों को जन्म देती है और श्रम ही आलस्य को उत्पन्न करता है। पर यह रहस्य तब समझ में आता है, जब देह का अभिमान गल जाए।

अब यदि कोई यह कहे कि अरुचि ने अनेक रुचियों को जन्म कैसे दिया ? तो कहना होगा कि अरुचि प्रतिकूलता से उत्पन्न होती है और प्रतिकूलता कामना की अपूर्ति में प्रतीत होती है। कामना की उत्पत्ति मिथ्या अभिमान से होती है। कामना-पूर्ति के लिए ही अनेक प्रकार की रुचियाँ उत्पन्न होती हैं और रुचि-पूर्ति के लिए ही श्रम अपेक्षित होता है। इस दृष्टि से यह सिद्ध हुआ कि कामना-अपूर्ति के दुःख ने अरुचि को उत्पन्न किया और कामना-पूर्ति के लालच ने अनेक रुचियों को जन्म दिया। इन सब का मूल, केवल मिथ्या अभिमान है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि अरुचि ने ही अनेक रुचियों को और श्रम ने ही आलस्य को जन्म दिया है; क्योंकि कामना-पूर्ति के लिए ही श्रम अपेक्षित है; योग, ज्ञान, तथा प्रेम के लिए नहीं।

अभाव, श्रम और अरुचि—ये तीनों तभी तक निवास करते हैं, जब तक हम उस अनन्त के समर्पित नहीं हो जाते, अर्थात् उसके सम्मुख नहीं हो जाते, जिससे विमुख हो गए हैं। अभाव अविवेक सिद्ध है, श्रम देहाभिमान से उत्पन्न होता है और अरुचि प्रीति की न्यूनता में उत्पन्न होती है। अरुचि त्याग नहीं है, द्वेषपूर्वक सम्बन्ध है और श्रम पुरुषार्थ नहीं है, अपितु

देहाभिमान का प्रतीक है। अभाव स्वरूप से नहीं है, अपितु प्रमाद से है। अरुचि किसी को समस्त विश्व से नहीं होती, अपितु किसी अंश से होती है। इस दृष्टि से अरुचि त्याग नहीं है। पुरुषार्थ से अहं भाव गल जाता है और श्रम का जन्म सीमित अहं भाव से होता है। इस दृष्टि से श्रम पुरुषार्थ नहीं है।

चाह की उत्पत्ति में ही अभाव की प्रतीति होती है और चाह की उत्पत्ति, जो नहीं है, उसको स्वीकार करने पर होती है। अतः अभाव स्वरूप से नहीं है, अपितु प्रमाद से ही है।

अब यदि कोई यह कहे कि श्रमरहित होने का उपाय क्या है ? तो कहना होगा कि सर्व प्रथम चाह और अचाह के जाल से मुक्त हो जाएं, फिर अपनी सीमित शक्तियों को अनन्त शक्ति के समर्पित कर दें। ऐसा करने पर जिससे समस्त सृष्टि गतिशील हो रही है उसी से सब कुछ होगा। उसके लिए चिन्ता व्यर्थ है। श्रमरहित होने का अर्थ कर्तृत्व के अभिमान से रहित होना है, कर्तव्य से रहित होना नहीं। कर्तव्य के लिए तो अनन्त शक्ति स्वतः कार्य कर रही है। हमें अपनी सीमित शक्तियों को उसी से मिला देना है, अर्थात् 'करना', 'होने' में परिवर्तित कर देना है।

अब यदि कोई कहे कि रुचि तो राग उत्पन्न कर देगी। तो कहना होगा कि राग तो सुख-भोग से उत्पन्न होता है, जो रुचि-अरुचि के द्वन्द्व से सिद्ध है। केवल रुचि तो अनुराग उत्पन्न कर देगी, राग नहीं। अनुराग विभु है और राग वस्तु, व्यक्ति आदि में आबद्ध है। अतः अरुचि से रहित जो रुचि है, वह राग उत्पन्न नहीं कर सकती, अपितु प्रीति जागृत् करती है।

सीमित श्रम का अभिमान गलते ही अनन्त शक्ति कार्य करने लगती है और अरुचि का अन्त होते ही केवल प्रीति-ही-प्रीति शेष रह जाती है, जो सर्वदा सर्वत्र अपने प्रीतम को ही लाड़ लड़ाती है। प्रीति होकर जहाँ देखोगे, वहाँ प्रीतम पर ही दृष्टि पड़ेगी और प्रीति होकर जो सुनोगे, उसमें प्रीतम की ही आवाज सुनाई देगी। प्रीति होकर जहाँ मिलोगे, वहाँ प्रीतम से ही मिलन होगा। प्रीति होकर जो करोगे, वह प्रीतम की ही पूजा होगी; क्योंकि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न किसी और को देखा ही नहीं। अथवा यों कहो कि प्रीति में एकमात्र प्रीतम ही निवास करता है, कोई दूसरा नहीं।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या सब ओर से विमुख होने पर ही हम सत्य से अभिन्न हो सकते हैं? तो कहना होगा कि जो सत्य सब ओर से विमुख होने पर प्राप्त होता है, वही सभी के सम्मुख होने से भी मिल सकता है; अर्थात् जिसकी उपलब्धि त्याग से होती है, उसी की प्रेम से भी होती है। त्याग विमुखता का पाठ पढ़ाता है और प्रेम सम्मुखता का। जब तक किसी और की स्वीकृति है, तब तक त्याग साधन है और जब कोई और है ही नहीं, तब प्रेम ही साधन है और प्रेम ही साध्य है। अथवा यों कहो कि त्यागरूपी भूमि में ही प्रेमरूपी-वृक्ष उत्पन्न होता है, अर्थात् त्याग का फल ही प्रेम है।

अब यदि कोई यह कहे कि क्या मृत्यु और अनुकूल संयोग का वियोग भी रुचिकर होना चाहिए? तो कहना होगा, अवश्य; कारण, कि किसी भी संयोग से नित्य-योग नहीं हो सकता। नित्य-योग एकमात्र वियोग से ही सिद्ध है। इस

दृष्टि से संयोग की अपेक्षा वियोग कहीं अधिक महत्त्व की वस्तु है। किसी की मृत्यु में ही किसी का जन्म निहित है। इस दृष्टि से नवीन जन्म के लिए मृत्यु अपेक्षित है। इतना ही नहीं, यदि मृत्यु को जीवन में ही अपना लिया जाए, तो अमरत्व की प्राप्ति मृत्यु से ही होती है। अतः मृत्यु जीवन से अधिक महत्त्व की वस्तु है। परन्तु देह की आसक्ति मृत्यु का भय उत्पन्न करती है, जो अविवेकसिद्ध है।

अरुचि के रहते हुए दिव्य-चिन्मय प्रीति का उदय नहीं हो सकता और प्रीति के बिना योगी की योग से, जिज्ञासु की तत्त्व से और प्रेमी की प्रेमास्पद से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से अरुचिका जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; क्योंकि उस अनन्त में ही योगी के योग की, जिज्ञासु की जिज्ञासा की और प्रेमी के प्रेम की पराकाष्ठा है। अनन्त से भिन्न कोई स्वतन्त्र सत्ता हो ही नहीं सकती। तो फिर अरुचि किससे की जाए?

अरुचि से अरुचि होते ही योग, ज्ञान तथा प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश होता है, जो वास्तविक जीवन है। अतः अस्वाभाविकता से उत्पन्न होने वाली अरुचि का अन्त करके दिव्य चिन्मय प्रीति को जागृत् करना ही वह वास्तविक साधन है, जो स्वाभाविकता को अपना लेने पर स्वतः सिद्ध है।

स्वाभाविकता आते ही सभी व्यक्तियों में, सभी वस्तुओं में और सभी परिस्थितियों में अपने प्रीतम का ही दर्शन होगा; क्योंकि सर्वत्र सर्वदा सब कुछ उस अनन्त की ही विभूतियाँ हैं, अन्य कुछ नहीं।

अब यदि कोई कहे कि ध्यान में दीखने वाली ज्योति में ही, तथा ध्यान में अनुभव होने वाली दिव्य आकृतियों में ही उस अनन्त का दर्शन होता है। तो पूछना होगा कि क्या वह ध्यान भी कोई ध्यान है, जिससे उत्थान हो जाए ? यदि ध्यान में अनन्त का दर्शन होता है, तो ध्यान के उत्थान में किसका दर्शन होता है ? क्या अनन्त से भिन्न किसी और की सत्ता है ? कदापि नहीं। जिसे हम ध्यान में देखते हैं, उसी को हमें ध्यान से उत्थान होने पर भी देखना है। तभी ध्यानी का ध्यान अखण्ड होगा और उसे सर्वत्र अपने प्रीतम का ही अनुभव होगा; भीतर-बाहर का भेद मिट जाएगा, जिसके मिटते ही उस अनन्त नित्य चिन्मय दिव्य जीवन से अभिन्नता हो जाएगी, जो सभी का सब कुछ है।

(२५)

विवेक से प्रीति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन की सार्थकता उसे विवेक-दृष्टि से अथवा प्रीति-निर्मित दृष्टि से देखने पर या दृष्टि को उसके उद्गम स्थान में विलीन करने पर ही हो सकती है, क्योंकि विवेक-दृष्टि निर्दोष बनाती है और प्रीति-निर्मित दृष्टि प्रीतम से मिलाती है तथा दृष्टि का अपने उद्गम स्थान में विलीन होना अमरत्व से अभिन्न करता है। निर्दोषता, प्रीति एवं अमरत्व की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है।

अब विचार यह करना है कि उपर्युक्त दृष्टियों में-से सर्व प्रथम किस दृष्टि का उपयोग करना चाहिए ? तो कहना होगा कि निर्दोषता आने पर ही प्रीति का उदय होता है और अमरत्व से अभिन्नता होती है। इस कारण सर्व प्रथम विवेक-दृष्टि का उपयोग करना अनिवार्य है।

विवेक-दृष्टि में अपने बनाए हुए दोष का ज्ञान तथा उसकी निवृत्ति का उपाय विद्यमान है। पर यह तभी सम्भव होगा, जब विवेक-दृष्टि का उपयोग केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही किया जाए, किसी अन्य पर नहीं। जिस प्रकार एक जल-कण के ज्ञान में समस्त जल का ज्ञान निहित है, उसी प्रकार अपने वर्तमान जीवन के ज्ञान में समस्त विश्व का ज्ञान

निहित है; क्योंकि व्यक्तिगत जीवन समष्टि जीवन का एक अङ्ग है, और कुछ नहीं।

विवेक-दृष्टि से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्रत्येक वस्तु, अवस्था एवं परिस्थिति में निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। इतना ही नहीं, समस्त दृश्य किसी का प्रकाश है, और कुछ नहीं। वस्तु आदि के परिवर्तन का ज्ञान नित्य-जीवन की आवश्यकता जागृत् करता है तथा प्रकाश प्रकाशक की ओर गतिशील होने की प्रेरणा देता है। नित्य-जीवन की आवश्यकता अनित्य जीवन की कामनाओं को खा लेती है। कामना-रहित होते ही आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है। कामनाओं की निवृत्ति में निर्दोषता और आवश्यकता की पूर्ति में नित्य-जीवन की प्राप्ति निहित है।

निर्दोषता आते ही राग-द्वेष का अन्त हो जाता है। राग-द्वेष रहित होते ही इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर मन में, मन बुद्धि में और बुद्धि अपने प्रकाशक में विलीन हो जाती है। अथवा यों कहो कि इन्द्रियों के प्रकाश में जगत् की प्रतीति है। इन्द्रियाँ मन के, मन बुद्धि के और बुद्धि उस अनन्त के प्रकाश से प्रकाशित है, जो सभी से अतीत है। इस दृष्टि से समस्त दृश्य उस अनन्त का प्रकाश है। प्रकाश में सत्ता प्रकाशक की ही होती है। अतः प्रकाश और प्रकाशक का विभाजन नहीं हो सकता, अपितु प्रकाश अपने प्रकाशक से अभिन्न हो सकता है। वास्तव में यही नित्य-योग है।

दृश्य के संयोग से भोग और उसकी विमुखता में नित्य-योग स्वतः सिद्ध है। नित्य-योग संयोग की दासता और

वियोग के भय से मुक्त करने में समर्थ है। उसके होते ही चिर-शान्ति, अमरत्व एवं प्रीति की जागृति स्वतः हो जाती है; क्योंकि जब दृष्टि अपने उद्गम-स्थान में विलीन हो जाती है, तब किसी प्रकार का भय तथा अभाव शेष नहीं रहता, अथवा यों कहो कि प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो जाता है। फिर दिव्य चिन्मय प्रीति-निर्मित दृष्टि प्राप्त होती है। प्रीति ने अपने प्रीतम से भिन्न कभी किसी को देखा ही नहीं। प्रीति की दृष्टि में सृष्टि नहीं है, क्योंकि सृष्टि तो केवल अविवेक से उत्पन्न हुई दृष्टि से प्रतीत होती है, जो नित्य-योग प्राप्त होने पर शेष नहीं रहती।

प्रीति उस अनन्त का स्वभाव है और विवेकी का जीवन है, अर्थात् विवेकी का अस्तित्व प्रीति से भिन्न कुछ नहीं है। प्रीति सब प्रकार की आसक्तियों को अपने में विलीन कर लेती है। अथवा यों कहो कि समस्त आसक्तियाँ गलकर प्रीति के स्वरूप में बदल जाती हैं। प्रीति रसरूप है, असीम है, दिव्य और चिन्मय है एवं अविनाशी होने के कारण नित-नव भी है। प्रीति की न कभी पूर्ति होती है, न निवृत्ति और न क्षति हो; क्योंकि प्रीति अनन्त का स्वभाव होने के कारण अनन्त है।

प्रीति की प्राप्ति उन्हीं साधकों को होती है, जो विवेक-पूर्वक अपने को वस्तु, अवस्था एवं परिस्थितियों से अतीत के जीवन से अभिन्न कर लेते हैं। अर्थात् अपने सहित अपना सर्वस्व समर्पण करने पर ही प्रीति की उपलब्धि हो सकती है, क्योंकि 'अहं' और 'मम' का नाश बिना हुए प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश नहीं हो सकता।

'अहं' और 'मम' का नाश करने के लिए विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त करना अनिवार्य है। अविवेक का अन्त होते ही सब प्रकार की चाह का अन्त हो जाता है। चाहरहित होते ही अप्रयत्न होना ही प्रयत्न रह जाता है, जो 'अहं' और 'मम' का नाश करने में समर्थ है।

विवेक-दृष्टि में सृष्टि का अन्त है, प्रीति की दृष्टि में प्रीतम की प्राप्ति है। सृष्टि का अपने उद्गम स्थान में विलय होने में ही अमरत्व की प्राप्ति है।

विवेक की दृष्टि साधन का आरम्भ है और दृष्टि का अन्त अथवा प्रीति की दृष्टि साधन का अन्त है। अतः विवेक-पूर्वक दृष्टि को उसके उद्गम स्थान में विलीन करके प्रीति-निर्मित दृष्टि प्राप्त करने में ही जीवन की सार्थकता है, जो वर्तमान की वस्तु है।

(२६)

उद्देश्य और उसकी पूर्ति

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि उद्देश्य का ज्ञान और उसकी पूर्ति की लालसा जागृत् होने पर प्राणी स्वभाव से ही अपना सर्वस्व समर्पित करने के लिए तत्पर हो जाता है, क्योंकि उद्देश्य वही हो सकता है, जिसका सम्बन्ध वर्तमान जीवन से हो, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसकी पूर्ति में किसी का अहित न हो और समस्त प्रवृत्तियाँ उसी के लिए हों; अर्थात् समस्त जीवन उस एक लालसा की पूर्ति में ही लग जाए।

अब विचार यह करना है कि उद्देश्य का ज्ञान कैसे हो? उसके लिए हमें अनेक इच्छाओं के मूल में अपनी स्वाभाविक आवश्यकता को जानना होगा, क्योंकि आवश्यकता के ज्ञान में ही उद्देश्य का ज्ञान विद्यमान है। आवश्यकता उसी का नाम है, जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो, जिसके लिए अनेक इच्छाओं का त्याग किया जा सके; पर जिसका त्याग किसी भी प्रकार न हो सके। जिस आवश्यकता का त्याग किसी प्रकार नहीं हो सकता, उसका ज्ञान तभी सम्भव होगा, जब हम उन सभी इच्छाओं का त्याग कर दें, जिनकी पूर्ति के बिना सुखपूर्वक अथवा दुःखपूर्वक रह सकते हैं।

सभी बाह्य वस्तुओं और व्यक्तियों का त्याग हम गहरी नींद के लिए कर देते हैं। परन्तु यदि जड़ता-रहित सुषुप्ति

प्राप्त हो जाए, तो उसके लिए गहरी नींद का भी त्याग कर सकते हैं। जाग्रत् और स्वप्न, दोनों अवस्थाएँ सुषुप्ति में विलीन होती हैं। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओं का ज्ञान जाग्रत् और स्वप्न में भी रहता है; परन्तु सुषुप्ति का ज्ञान सुषुप्ति अवस्था में स्पष्ट नहीं होता, केवल सुखपूर्वक निद्रा की स्मृति ही जाग्रत् में होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति-अवस्था के सुख की अनुभूति है, क्योंकि बिना अनुभूति के स्मृति सम्भव नहीं है। परन्तु प्रत्येक अवस्था का त्याग होता है।

अतः सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की आवश्यकता ही स्वाभाविक आवश्यकता है। अथवा यों कहो कि जो सभी अवस्थाओं का प्रकाशक है, उसकी आवश्यकता ही स्वाभाविक आवश्यकता हो सकती है। इस दृष्टि से जो वस्तु, अवस्था आदि से अतीत है और सभी का प्रकाशक है, उसकी प्राप्ति और उसकी प्रीति हमारा उद्देश्य है। यद्यपि सत्तारूप से वह सर्वदा प्राप्त है; परन्तु वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की आसक्ति ने हमें उससे विमुख कर दिया है।

जिससे हमें उद्देश्य का ज्ञान होता है, उसी ज्ञान में उद्देश्यपूर्ति के साधनों का भी ज्ञान विद्यमान है। जब हम जानते हैं कि जाग्रत् और स्वप्न में सुख और दुःख दोनों ही होते हैं और सुषुप्ति में किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता; तब उसका कारण एकमात्र यह हुआ कि जाग्रत् और स्वप्न में तो दृश्य से सम्बन्ध रहता है, परन्तु सुषुप्ति में जाग्रत् और स्वप्न का दृश्य अपने कारण में विलीन हो जाता है। दृश्य के विलीन होने पर दुःख नहीं रहता। इस अनुभूति के आधार

पर यदि हम जाग्रत् में ही अपने को समस्त दृश्य से विमुख कर लें, तो दुःख का अन्त हो जाएगा और सुषुप्ति की भाँति जड़ता भी नहीं रहेगी।

अब विचार यह करना है कि समस्त दृश्य से विमुखता प्राप्त करने के लिए क्या करना होगा ? तो कहना होगा कि दृश्य के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर ही दृश्य से विमुखता सम्भव है।

दृश्य का स्वरूप क्या है ? जिसमें प्रवृत्ति तो हो, पर जिसकी प्राप्ति न हो। अर्थात् जिसकी ओर दौड़ते हों, पर उसे पकड़ न पाते हों—यही दृश्य का वास्तविक स्वरूप है। जिसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, उसमें प्रवृत्ति क्यों होती है ? अथवा जिसे पकड़ नहीं पाते, उसकी ओर दौड़ते क्यों हैं ? तो कहना होगा कि अपने को देह मान लेने के कारण ही ऐसा होता है, जो अविवेकसिद्ध है।

अपने को देह मान लेने पर कामनाओं का उदय होता है, क्योंकि ऐसी कोई कामना नहीं है, जिसका सम्बन्ध देह से न हो। कामनाओं का उदय होते ही बुद्धि मन में, मन इन्द्रियों में और इन्द्रियाँ विषयों में प्रवृत्त होती हैं; परन्तु प्रवृत्ति के अन्त में शक्तिहीनता के अतिरिक्त और कुछ प्राप्त नहीं होता। अथवा यों कहो कि प्रवृत्ति का राग होने के कारण परतन्त्रता और जड़ता की अनुभूति होती है। प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से आने वाली निवृत्ति से शक्ति का संचय होने लगता है, जिसके होते ही राग के कारण पुनः प्रवृत्ति होने लगती है। इसी प्रकार अनेक बार प्रवृत्ति-निवृत्ति होती रहती है, परन्तु प्राप्ति कुछ नहीं होती। इस अनुभूति का आदर

करने पर प्रवृत्ति से अरुचि हो जाती है और प्रवृत्ति से अतीत के जीवन की जिज्ञासा जागृत् होती है। वह जिज्ञासा ज्यों-ज्यों सबल और स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों प्रवृत्ति का राग स्वत: मिटता जाता है। प्रवृत्ति के राग का अन्त होने पर जो निवृत्ति प्राप्त होती है, वह चिर-शान्ति प्रदान करती है।

यह नियम है कि असत् का ज्ञान असत् से असङ्ग होने पर और सत् का ज्ञान सत् से अभिन्न होने पर ही होता है। इस दृष्टि से जब प्रवृत्ति से असङ्गता प्राप्त होती है, तब दृश्य के वास्तविक स्वरूप का यह ज्ञान हो जाता है कि वह वास्तव में कुछ नहीं है; क्योंकि यदि दृश्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व होता, तो प्रवृत्ति के अन्त में प्राप्ति होनी चाहिए थी। पर ऐसा नहीं होता। केवल प्रवृत्ति के राग से ही बार-बार प्रवृत्ति होती है। राग की निवृत्ति होते ही प्रवृत्ति सहज निवृत्ति में विलीन होकर चिर-शान्ति से अभिन्न हो जाती है। चिर-शान्ति में किसी को दृश्य की अनुभूति नहीं होती।

इससे यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि दृश्य का वास्तविक स्वरूप अभावरूप है। दृश्य भले ही इन्द्रिय-दृष्टि से सत् और बुद्धि की दृष्टि से परिवर्तनशील मालूम होता हो, परन्तु इन्द्रिय और बुद्धि भी तो दृश्य के अन्तर्गत हैं। यदि इन्द्रिय तथा बुद्धि से असङ्ग होकर दृश्य की खोज की जाए, तो दृश्य-जैसी कोई वस्तु नित्य या अनित्य किसी भी रूप में प्रतीत नहीं होती। अत: दृश्य के सम्बन्ध में यही कहना उपयुक्त जान पड़ता है कि दृश्य वह है, जिसकी ओर दौड़ते हों, पर जिसे पकड़ न पाते हों।

अब यदि कोई यह कहे कि दृश्य नहीं है, तो प्रतीत क्यों होता है ? तो कहना होगा कि दृश्य की प्रतीति इन्द्रिय-ज्ञान तथा बुद्धि-ज्ञान से तद्रूप होने पर होती है। ये दोनों भी दृश्य ही हैं, इसलिए यह सिद्ध हुआ कि दृश्य से तद्रूप होने पर ही दृश्य की प्रतीत होती है। दृश्य से तद्रूपता निज-ज्ञान के अनादर से है, वास्तविक नहीं।

निज-ज्ञान का आदर करने पर दृश्य से तद्रूपता नहीं रहती। तद्रूपता के मिटते ही दृश्य की प्रतीति स्वत: मिट जाती है, जिसके मिटते ही नित्य-योग प्राप्त हो जाता है। नित्य-योग में चिर-शान्ति और सामर्थ्य विद्यमान है, जो उद्देश्य की पूर्ति में हेतु है; क्योंकि चिर-शान्ति सभी वस्तु, अवस्था आदि की आसक्तियों का अन्त कर देती है और सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन से अभिन्न कर देती है। वस्तु, अवस्था आदि की आसक्ति तो तभी तक जीवित रहती है, जब तक 'चिर-शान्ति' खिन्नता और अभाव को खा नहीं लेती। चिर-शान्ति स्थिति नहीं है। स्थिति तो सविकल्प या निर्विकल्प होती है। स्थिति अवस्था है, स्वतन्त्र सत्ता नहीं; परन्तु चिर-शान्ति अवस्थाओं से असङ्ग होने पर प्राप्त होती है। चिर-शान्ति में जड़ता से विमुख कर चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश कराने की सामर्थ्य है; अथवा यों कहो कि चिर-शान्ति उस अमरत्व से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

अमरत्व से अभिन्न होते ही दिव्य चिन्मय प्रीति स्वत: जागृत् हो जाती है, क्योंकि जीवन तथा रस का विभाजन नहीं हो सकता। रसरहित जीवन और जीवनरहित रस किसी को भी अभीष्ट नहीं है। 'अमरत्व' जीवन है और 'प्रीति' रस

है। इस दृष्टि से अमरत्व और प्रीति दोनों ही की प्राप्ति मानव का उद्देश्य है। उसकी पूर्ति दृश्य से विमुख होने पर वर्तमान में ही हो सकती है। परन्तु यदि किसी कारण दृश्य से विमुख होने में असमर्थता का अनुभव हो, तो उद्देश्य-पूर्ति के नाते निर्मोहतापूर्वक प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करना चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब प्राप्त वस्तु, योग्यता तथा सामर्थ्य से सभी की सेवा की जाए और सेवा का अन्त त्याग में कर दिया जाए, अर्थात् सेवा के बदले में किसी प्रकार की आशा न की जाए, अपितु जिनकी सेवा की जाए, उन्हीं के हित और प्रसन्नता का ध्यान रहे। ऐसा होते ही दृश्य से विमुख होने की वह सामर्थ्य स्वत: आ जाएगी, जो उद्देश्य-पूर्ति में समर्थ है।

यदि किसी कारणवश सर्वहितकारी सेवा भी सम्भव न हो, तो अपने-आपको उसके समर्पित कर देना चाहिए, जो सभी का सब कुछ है और जिसकी प्राप्ति ही मानव का उद्देश्य है। समर्पित होते ही उनकी कृपाशक्ति स्वत: साधन करने की सामर्थ्य प्रदान करेगी या उद्देश्य की पूर्ति कर देगी; अथवा यों कहो कि जिसको प्राप्त करना है, उसकी अहैतुकी कृपा का आश्रय ही अन्तिम सुगम साधन है।

(२७)

कर्तव्य-मीमांसा

वर्तमान जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान कार्य को भविष्य पर छोड़ना और भविष्य के कार्य का वर्तमान में चिन्तन करना, जो स्वयं कर सकते हैं, उसके लिए दूसरों की ओर देखना और जो अपने करने का नहीं है, उसके लिए स्वयं चिन्तन करना, यही असफलता का कारण है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान कार्य क्या है ? तो कहना होगा कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग; जाने हुए दोष का त्याग; जिसे प्राप्त करना हो, उसका विश्वास, उससे नित्य-सम्बन्ध और जिससे छुटकारा पाना है, उसकी ममता का त्याग वर्तमान का कार्य है।

प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है। उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित है; क्योंकि परिस्थिति का सदुपयोग करने पर न तो अप्राप्त परिस्थिति का चिन्तन होता है और न प्राप्त परिस्थिति की आसक्ति ही रहती है, अर्थात् प्राप्त परिस्थिति से असंगता हो जाती है और अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिट जाती है। अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिटने से वस्तु, व्यक्ति आदि का चिन्तन मिट जाता है। वस्तु का चिन्तन मिटते ही निर्लोभता और व्यक्ति का चिन्तन मिटते ही निर्मोहता आ

जाती है। निर्लोभता जड़ता से विमुख करती है और निर्मोहता अविवेक का नाश करती है। जड़ता से विमुख होते ही चिन्मय साम्राज्य में प्रवेश और अविवेक का नाश होते ही नित्य-जीवन की प्राप्ति स्वत: हो जाती है।

जाने हुए दोष का त्याग करते ही निर्दोषता स्वत: आ जाती है, क्योंकि सभी दोष दोषी के सहयोग से ही जीवित रहते हैं। अत: दोष की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। जब साधक जाने हुए दोष का त्याग कर देता है, तब पुन: दोष की उत्पत्ति नहीं होती। यह नियम है कि जाने हुए दोष के त्याग से दोषों को जानने की और उनको मिटाने की सामर्थ्य उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहती है। इस दृष्टि से जाने हुए दोष के त्याग में निर्दोषता निहित है। निर्दोषता आ जाने पर गुणों का अभिमान स्वत: गल जाता है। गुणों का अभिमान गलते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता। उसके मिटने पर सब प्रकार के भेद और अभाव स्वत: मिट जाते हैं; फिर अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता हो जाती है।

जिसे प्राप्त करना है, उस पर विश्वास और नित्य-सम्बन्ध पर विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि नित्य-सम्बन्ध और विकल्परहित विश्वास उसी पर हो सकता है, जिसकी आवश्यकता तो हो, पर जिसे जानते न हों और जो अविनाशी हो; क्योंकि नित्य सम्बन्ध नश्वर से नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सभी वस्तु, व्यक्ति आदि का विश्वास मिटने पर जो विश्वास शेष रहता है, वही उसका विश्वास है, जिसको प्राप्त करना है और नित्य-सम्बन्ध भी उसी से है। विश्वास में सम्बन्ध की सामर्थ्य निहित है और सम्बन्ध में

प्रीति की जागृति स्वतः सिद्ध है। यह नियम है कि प्रीति ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती जाती है, त्यों-त्यों जिसकी वह प्रीति है, उससे दूरी तथा भेद मिटता जाता है, जिसके मिटते ही प्रीति स्वयं अपने प्रीतम से अभिन्न हो जाती है। इस दृष्टि से विश्वास और नित्य-सम्बन्ध भी लक्ष्य की प्राप्ति में समर्थ हैं।

छुटकारा उससे पाना है, जो निरन्तर बदल रहा है एवं जिसका त्याग अनिवार्य है। इस दृष्टि से शरीर आदि सभी वस्तुओं की ममता का त्याग करना है, जिसके करते ही सभी बन्धन स्वभाव से ही टूट जाते हैं, अथवा यों कहो कि सब ओर से विमुखता आ जाती है। फिर स्वभाव से ही समस्त आसक्तियाँ मिटकर उसकी प्रीति बन जाती हैं, जिसे प्राप्त करना है।

वर्तमान के कार्य सभी अपने करने के हैं और उनका परिणाम स्वतः होने वाला है। जो अपने करने के हैं, उन्हें करना है, परिणाम पर दृष्टि नहीं रखनी है; क्योंकि उसमें अपना अधिकार नहीं है। यह नियम है कि जो कर सकते हैं, उसके कर डालने पर करने की रुचि मिट जाती है और निश्चिन्तता आ जाती है। करने की रुचि मिटते ही कर्ता स्वयं किसी की जिज्ञासा अथवा प्रीति बन जाता है और निश्चिन्तता आते ही व्यर्थ-चिंतन मिट जाता है तथा आवश्यक सामर्थ्य का विकास स्वतः होने लगता है। ऐसा होने पर जिज्ञासा की पूर्ति होकर प्रीति प्रीतम से अभिन्न हो जाती है।

इस दृष्टि से वर्तमान के कार्य का हो जाना ही सफलता की कुञ्जी है। पर सफलता पर दृष्टि नहीं रखनी है, अपितु

कर्त्तव्यनिष्ठ होकर कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व के अभिमान से मुक्त होना है। वर्तमान का सुधार ही वास्तविक सुधार है, क्योंकि वर्तमान का परिणाम ही भविष्य होता है। आगे-पीछे का व्यर्थ-चिन्तन वर्तमान के दुरुपयोग से ही होता है। इतना ही नहीं, वर्तमान की नीरसता ही कामनाओं को जन्म देती है और वर्तमान में नीरसता तभी आती है, जब जो कर सकते हैं, उसे नहीं करते और जो नहीं कर सकते, उसका चिन्तन करते हैं। इस दृष्टि से सभी दोषों का मूल, वर्तमान का दुरुपयोग है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

कर्तव्यनिष्ठ होने पर कर्तव्य के परिणाम पर दृष्टि ही नहीं जाती, क्योंकि फल अपने अधिकार की वस्तु नहीं है। परन्तु यदि कोई यह कहे कि फल की आशा तो होनी ही चाहिए, क्योंकि उसके बिना अपना अस्तित्व ही कैसे रहेगा? तो कहना होगा कि शरीर आदि सभी वस्तुओं का अस्तित्व तो स्वभाव से ही मिट रहा है। उसकी आशा करना तो प्रमाद ही होगा, और कुछ नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि कर्तव्यनिष्ठ होते ही कर्ता स्वतः जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाएगा। जिज्ञासा की पूर्ति तथा प्रेम का प्रादुर्भाव तो स्वभाव सिद्ध है।

इस दृष्टि से प्रेमी और जिज्ञासु होने के लिए ही कर्तव्य-निष्ठ होना है। जिस काल में जिज्ञासा जिज्ञासु को खाकर पूर्ण जागृत् होती है, उसी काल में उसकी पूर्ति अपने-आप हो जाती है। जिस काल में प्रेम का उदय होता है, प्रेमी 'प्रेम' होकर स्वयं प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है, अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का प्रेम पाकर कृतकृत्य हो जाता है। जिज्ञासु को जिज्ञासापूर्ति और प्रेमी को प्रेम-प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य

किसी प्रकार की आशा ही नहीं होती। प्रेम-प्राप्ति प्रेमास्पद की अहैतुकी कृपा पर निर्भर है और जिज्ञासा की पूर्ति जिज्ञासा की पूर्ण जागृति पर निर्भर है।

साधक जो कर सकता है, उसके करने पर वह स्वभाव से ही जिज्ञासु तथा प्रेमी हो जाएगा और जिज्ञासु तथा प्रेमी होने पर जो होना है, वह स्वतः होने लगेगा। अतः कतव्य-निष्ठ होने में ही अपना अधिकार है, फल की आशा में नहीं। फल की आशा किसी आसक्ति की सूचक है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। कर्तव्य-पालन की कसौटी है कि फल की आशा स्वभाव से ही न रहे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कर्तव्य-पालन का होना ही महान् फल है, क्योंकि कर्तव्य-पालन के पश्चात् करने का प्रश्न ही शेष नहीं रहता। जब साधक जो कर सकता है, वह कर डालता है, तब क्या साध्य को जो करना है, वह नहीं करेगा? क्या साध्य अपने कर्तव्य से च्युत हो सकता है? कदापि नहीं, अपितु साध्य तो इतना उदार है कि साधक को भी करने की सामर्थ्य प्रदान करता है।

जिस प्रकार माँ अपने शिशु के लिए सब कुछ स्वतः करती है, उसी प्रकार साध्य साधक के लिए सब कुछ करता है। अन्तर केवल इतना है कि माँ सब प्रकार से समर्थ नहीं है, परन्तु साध्य सब प्रकार से समर्थ है। फल की आशा साध्य के कर्तव्य पर दृष्टि रखना है, जो साध्य का सबसे बड़ा अनादर है। इस दृष्टि से फल की आशा करना साधक का महान् दोष है। उसका त्याग करना परम आवश्यक है।

जाने हुए दोष का त्याग, वर्तमान का सदुपयोग, बिकल्परहित विश्वास और शरीर आदि वस्तुओं की ममता का त्याग अपने करने का कार्य है, उसको सुगमतापूर्वक प्रत्येक साधक कर सकता है। इसका परिणाम स्वत: होने वाली वस्तु है। उसके लिए चिन्ता करना प्रमाद है। जो कर सकते हैं, उसके करते ही नित्य-योग, अमरत्व और प्रेम की प्राप्ति स्वत: हो जाएगी, जो वास्तविक जीवन है।

(२८)

क्षणिक जीवन से निराशा तथा अनन्त का आश्रय

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि वर्तमान परिवर्तनशील क्षणभंगुर जीवन का ज्ञान संसार की असारता का पाठ पढ़ाता है। अथवा यों कहो कि जीवन की अनित्यता नित्य-जीवन की जिज्ञासा जागृत् करती है। पर उसकी पूर्ति तभी सम्भव है, जब साधक जीवन की आशा को त्याग कर जीवन का सदुपयोग करने लगे।

जीवन की आशा के त्याग से क्षणभंगुर जीवन की कामना का नाश हो जाता है, जिसके होते ही जिज्ञासा की पूर्ति हो जाती है। इस दृष्टि से कामनाओं का त्याग और जिज्ञासा की पूर्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग क्या है ? तो कहना होगा कि क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग है, 'सर्व हितकारी प्रवृत्ति'। सर्व हितकारी प्रवृतियाँ स्वार्थभाव को खा लेती हैं, स्वार्थभाव के मिटते ही सुख-भोग की आसक्ति शेष नहीं रहती और समस्त विश्व के साथ एकता का ज्ञान हो जाता है, जिसके होते ही मोह का नाश और प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है। निर्मोहता में वास्तविक ज्ञान और प्रेम में अगाध अनन्त रस निहित है।

अब विचार यह करना है कि सर्व हितकारी प्रवृत्ति क्या है ? तो कहना होगा कि जिसमें किसी का अहित न हो, जिसका उदय करुणा तथा प्रसन्नता से हो और जिसके अन्त में अभिन्नता प्राप्त हो, वही सर्व हितकारी प्रवृत्ति है। अभिन्नता आते ही कर्तृत्व का अभिमान गल जाता है और वासनाओं का अन्त हो जाता है। वासनाओं का अन्त होते ही सीमित अहंभाव शेष नहीं रहता, जिसके मिटते ही नित्य-योग, नित्य-जीवन और प्रेम प्राप्त होता है।

जब तक प्राणी क्षणभंगुर जीवन की आशा तो करता है, पर उसका सदुपयोग नहीं करता, तब तक न तो साधन का निर्माण हो सकता है और न साध्य की उपलब्धि ही। इस दृष्टि से साधक के जीवन में क्षणभंगुर जीवन की आशा का कोई स्थान ही नहीं है, अपितु उससे निराश होना अनिवार्य है, क्योंकि सच्ची निराशा आ जाने पर जीवन में ही मृत्यु का अनुभव हो जाता है, जिसके होते ही समस्त विश्व से विमुखता हो जाती है। सब ओर से विमुख होते ही अपने ही में अपने उस वास्तविक जीवन का अनुभव हो जाता है, जो दिव्य तथा चिन्मय है।

क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग और उससे निराश होने पर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक साधन का निर्माण तथा साध्य की उपलब्धि कर सकता है। परन्तु यह तभी सम्भव होगा, जब साधन निर्माण वर्तमान जीवन की वस्तु हो। उसके लिए प्राप्त विवेक का आदर करना आवश्यक है।

यदि किसी कारण प्राप्त विवेक के आदर में असमर्थता

का अनुभव हो, तो व्यथित हृदय से, सरल विश्वासपूर्वक उस अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर, जिसने विवेक तथा सामर्थ्य प्रदान की है, अपने को उसे समर्पित कर देना चाहिए। समर्पण होते ही कृपाशक्ति स्वतः साधन का निर्माण कर देगी, जिसके होते ही साधक का समस्त जीवन दिव्य चिन्मय प्रीति-स्वरूप हो जाएगा। फिर सर्वत्र सर्वदा अपने प्रीतम का ही दर्शन होगा; क्योंकि प्रीति ने प्रीतम से भिन्न को कभी देखा ही नहीं। प्रीति प्रीतम का स्वभाव है और प्रेमी का जीवन है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम में स्वरूप की एकता है।

क्षणभंगुर जीवन का सदुपयोग करके अथवा उससे निराश होकर अथवा अनन्त की अहैतुकी कृपा का आश्रय लेकर साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक वास्तविक जीवन प्राप्त कर सकता है।

(२६)

परिवर्तनशील एवं वास्तविक जीवन

जीवन के अध्ययन से स्पष्ट विदित होता है कि जब तक साधक को अपने वर्तमान परिवर्तनशील जीवन का यथार्थ ज्ञान नहीं होता, तब तक न तो प्रमाद का अन्त होता है, न स्वाभाविक लालसा जागृत् होती है और न सर्वहितकारी प्रवृत्ति का उदय ही होता है।

वर्तमान परिवर्तनशील जीवन का यथार्थ ज्ञानरूपी प्रकाश प्रमादरूपी अन्धकार को खा लेता है। फिर स्वाभाविक लालसा स्वतः जागृत् होती है, जिसकी पूर्ति अपने-आप हो जाती है। फिर होने वाली सभी प्रवृत्तियों से दूसरों का हित स्वतः होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि वर्तमान जीवन का वास्तविक स्वरूप क्या है? तो कहना होगा कि वतमान व्यक्तिगत जीवन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, क्योंकि समष्टि शक्तियों के आधार पर ही व्यक्तिगत चेष्टाएँ होती हैं; जैसे सूर्य के आधार पर ही नेत्र की चेष्टा होती है। इस दृष्टि से समस्त विश्व और व्यक्तिगत जीवन के स्वरूप में कोई भेद नहीं है।

अतः जो समस्त विश्व का प्रकाशक है, वही व्यक्तिगत जीवन का भी है। परन्तु प्राणी प्रमादवश सीमित शक्तियों के

अभिमान में आबद्ध होकर अपने व्यक्तित्व को अलग मान लेता है। उसका परिणाम यह होता है कि वह वस्तु, व्यक्ति आदि की उस दासता में आबद्ध हो जाता है, जिससे कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और जो स्वाभाविक लालसा को आच्छादित करके अनेक प्रकार की आसक्तियों को जन्म देती है। उसका परिणाम यह होता है कि व्यक्तित्व का मोह उत्पन्न हो जाता है, जो अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति में हेतु है। व्यक्तित्व का मोह रहते हुए त्याग करने पर त्यागी, सेवा करने पर सेवक और प्रेम करने पर प्रेमी कहलाने की कामना बनी रहती है, जो सेवा, त्याग तथा प्रेम की सार्थकता सिद्ध नहीं होने देती।

त्याग की सार्थकता चिर-शान्ति और निर्मोहता में, सेवा की सार्थकता स्वार्थ से रहित सर्वहितकारी प्रवृत्ति में और प्रेम की सार्थकता प्रेमास्पद को रस प्रदान करने में है। चिर-शान्ति और निर्मोहता के बिना अमरत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती, सर्वहितकारी प्रवृत्तियों के बिना प्रवृत्ति के अन्त में प्रवृत्ति का चिन्तन नहीं मिट सकता और प्रेमास्पद को रस प्रदान किये बिना नित-नव अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।

दृश्य से तादात्म्य होने पर ही दृश्य की प्रतीति होती है। इन्द्रियों से तादात्म्य होने पर विषयों की, मन से तादात्म्य होने पर इन्द्रियों की और बुद्धि से तादात्म्य होने पर मन की प्रतीति होती है। अतः सम्पूर्ण दृश्य उससे तादात्म्य होने पर ही प्रतीत होता है। अब विचार यह करना है कि प्राणी का दृश्य से तादात्म्य क्यों होता है? तो कहना होगा कि कामना-

पूर्ति के लिए। यदि कामना-पूर्ति का लालच न हो, तो दृश्य से तादात्म्य हो ही नहीं सकता।

अब यदि यह विचार किया जाए कि कामना-पूर्ति का लालच क्यों होता है ? तो कहना होगा कि उस व्यक्तित्व के मोह से, जो अविवेकसिद्ध है और जो वास्तविकता की जिज्ञासा तथा भोग की वासनाओं का समूह है। भोग-वासनाओं की निवृत्ति और वास्तविकता की जिज्ञासा की पूर्ति होने पर व्यक्तित्व-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहती। अतः व्यक्तित्व के मोह का अन्त करने के लिए जिज्ञासा की पूर्ति और भोग-वासनाओं की निवृत्ति अनिवार्य है, जो विवेक से ही हो सकती है।

अविवेक की भूमि में ही व्यक्तित्व के मोह की उत्पत्ति होती है और व्यक्तित्व का मोह ही शरीर आदि दृश्य से तादात्म्य उत्पन्न करता है, जिसके उत्पन्न होते ही समस्त दृश्य की प्रतीति होने लगती है। यदि विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त कर दिया जाए, तो समस्त दृश्य अपने उद्गम स्थान में स्वतः विलीन हो जाएगा; फिर त्रिपुटी शेष न रहेगी। त्रिपुटी के मिटते ही अखण्ड एकरस नित्य-तत्त्व से अभिन्नता हो जाएगी अर्थात् दृष्टा, दर्शन, दृश्य, तीनों उस अनन्त में विलीन हो जाएंगे, जो सभी का सब कुछ है।

इस दृष्टि से जिसे हम 'व्यक्तित्व' कहते हैं, वह केवल अविवेक की दृष्टि है, और कुछ नहीं तथा जिसे हम 'पर' कहते हैं, वह इन्द्रियों की दृष्टि है, और कुछ नहीं। 'व्यक्तित्व' के मिटते ही 'पर' जैसी कोई वस्तु ही नहीं रहती।

अपना तो केवल प्रीतम ही है, और कुछ नहीं—ऐसी दृष्टि तब प्राप्त होती है, जब वर्तमान जीवन के ज्ञान से अविवेक मिट जाता है; अविवेक के मिटते ही सब प्रकार के भेद का अन्त हो जाता है, भेद का अन्त होते ही सभी वासनाओं का अन्त हो जाता है और वासना-रहित होते ही समस्त आसक्तियाँ दिव्य चिन्मय प्रीति के स्वरूप में परिवर्तित हो जाती हैं।

आसक्तियों के रहते हुए ही 'पर' की प्रतीति होती है। जब आसक्तियाँ प्रीति के स्वरूप में परिवर्तित हो जाती हैं, तब 'पर'-जैसी कोई वस्तु शेष ही नहीं रहती। केवल प्रीति और प्रीतम का ही नित-नव मिलन रहता है, जो वास्तविक जीवन है।

(३०)

ममता का त्याग और प्रेम

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन की सार्थकता सिद्ध करने के लिए हमें उस पर विश्वास करना है, जो बुद्धि से परे है। 'उसको' अपना मानना और उसी का प्रेमी होना है। जो बुद्धि के सामने है, उसे अपना नहीं मानना है, उस पर विश्वास भी नहीं करना है, अपितु उसकी सेवा करना है और उसके वास्तविक स्वरूप को जानना है।

बुद्धि के द्वारा जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उसके प्रति ममता करने से किसी का भी कोई लाभ नहीं होता, न तो उसका, जिससे ममता की जाती है और न ममता करने वाले का ही। अब विचार यह करना है कि बुद्धि के द्वारा किसकी प्रतीति हो रही है? तो कहना होगा कि देश, काल, वस्तु और व्यक्ति आदि की। देश-काल की ममता सीमित बनाती है तथा वस्तु और व्यक्ति की ममता लोभ और मोह में आबद्ध करती है। ममता-रहित होकर वस्तुओं का सदुपयोग और व्यक्तियों की सेवा करने से निर्लोभता और निर्मोहता आती है। देश-काल को ममता से रहित होने पर जो असीम और कालातीत है, उससे नित्य-सम्बन्ध हो जाता है, अथवा यों कहो कि उससे अभिन्नता हो जाती है।

लोभ और मोह में आबद्ध प्राणी सेवा नहीं कर सकता। अतः सेवा करने के लिए निर्लोभता और निर्मोहता अत्यन्त आवश्यक है। निर्लोभता आने पर जब वस्तुओं की अपेक्षा व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ जाएगा, तब सेवा स्वभाव से ही होने लगेगी। निर्मोहता आने पर अविवेक मिट जाएगा, जिसके मिटते ही कर्तव्य का ज्ञान एवं कर्तव्यपरायणता स्वतः प्राप्त होगी। लोभ और मोह का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, केवल वस्तु और व्यक्ति को अपना मानने से ही लोभ और मोह की उत्पत्ति होती है। लोभ की उत्पत्ति जड़ता में और मोह की उत्पत्ति वियोग के भय में आबद्ध करती है। जड़ता और भय में आबद्ध प्राणी नित्य चिन्मय जीवन से विमुख हो जाता है, जो किसी को भी अभीष्ट नहीं है।

वस्तुओं की ममता अपने को संग्रही बनाती है और समाज में दरिद्रता उत्पन्न करती है, जो विप्लव का हेतु है। व्यक्तियों की ममता अपने को मोही बनाकर आसक्त कर देती है और जिनसे ममता की जाती है, उनमें अधिकार-लालसा जाग्रत् करती है। मोह और आसक्ति कर्तव्य का ज्ञान नहीं होने देते एवं अधिकार-लालसा, की हुई सेवा तथा प्रीति का दुरुपयोग कराती है और तृष्णा में आबद्ध करती है। लोभ और मोह से सेवा करने वाला कर्तव्यविमूढ़ और सेवा कराने वाला तृष्णा में आबद्ध हो जाता है, जिसका परिणाम बड़ा ही दुःखद सिद्ध होता है, अर्थात् करने वाले और कराने वाले दोनों का अहित होता है। इस दृष्टि से लोभ और मोह के रहते हुए सेवा सिद्ध नहीं होती। 'वास्तविक सेवा' करने वाले में त्याग और कराने वाले में सन्तोष उत्पन्न करती है। वह

निर्लोभता एवं निर्मोहता आने पर ही सम्भव है; अतः उसके लिए हमें वस्तुओं और व्यक्तियों की ममता का त्याग करना होगा।

देश और काल की ममता ने सीमित अहंभाव को उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण अनेक भेद उत्पन्न हो गए हैं और जीवन संघर्ष तथा भय से आक्रान्त हो गया है। सेवा द्वारा सब प्रकार के बाह्य संघर्ष का अन्त हो सकता है। परन्तु कब ? जब सेवा ममता-रहित होकर की जाए; यहाँ तक कि जिन साधनों से सेवा की जाए, उनमें भी ममता न हो और जिनकी सेवा की जाए, उनमें भी ममता न हो। तभी वास्तविक सेवा हो सकती है। यदि सेवा के साधनों के प्रति ममता की जाएगी, तो सेवक में अभिमान उत्पन्न हो जाएगा। जैसे, अपना हाथ मानकर किसी का मुँह धोने से धोने वाले में अभिमान और धुलाने वाले में दीनत्व आ जाएगा; क्योंकि अभिमान भेद उत्पन्न कर देता है। यदि यह मान लिया जाए कि जिसका मुँह धोते हैं, उसी का यह हाथ है, तो धोने वाले में निरभिमानता और धुलाने वाले में अभिन्नता आ जाएगी, जिसके आते ही परस्पर में स्नेह की वह एकता जागृत् होगी, जो भय और संघर्य का अन्त करने में समर्थ है।

अतः सामर्थ्य, योग्यता, वस्तु, शरीर आदि जिन साधनों से सेवा की जाए, उन साधनों को उन्हीं का समझना चाहिए, जिनकी सेवा हो रही है। ऐसा करते ही सेवक में त्याग और जिनकी सेवा की जाएगी, उनमें सौन्दर्य तथा सन्तोष आदि दिव्य गुण उत्पन्न होने लगेंगे। अथवा यों कहो कि जिनकी सेवा की जाएगी, वे भी सेवक हो जाएंगे। यदि की हुई सेवा

सेवक बनाने में समर्थ नहीं है, तो समझना चाहिए कि सेवा में कोई दोष है, सेवा के साधनों या सेवा-पात्र के प्रति वह ममता है, जिसका सेवाक्षेत्र में कोई स्थान ही नहीं है।

जिस काल में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त वस्तुएँ तथा उनके द्वारा प्रतीत होने वाले समस्त दृश्य से ममता टूट जाती है, उसी काल में दृश्य के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और जो बुद्धि से परे है, उस अनन्त से प्रेम हो जाता है, क्योंकि दृश्य के स्वरूप का ज्ञान दृश्य से विमुख होने की सामर्थ्य प्रदान करता है। दृश्य से विमुख होते ही सीमित अहंभाव गलकर उस प्रेम के स्वरूप में बदल जाता है, जो प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है। प्रेम को स्थाई तथा सबल बनाने के लिए चाहरहित होना अनिवार्य है, क्योंकि चाह की उत्पत्ति प्रेम को दूषित करती है। यहाँ तक कि प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब सद्गति की भी चाह न हो। इतना ही नहीं, अचाह होने की भी चाह न हो, क्योंकि चाह की उत्पत्ति भिन्नता उत्पन्न करती है, जो प्रेम में बाधक है। प्रेम तभी सुरक्षित रह सकता है, जब प्रेमी में इस भाव का उदय भी न हो कि, 'मैं प्रेमी हूँ', क्योंकि प्रेम प्रेमी को खाकर ही पुष्ट होता है।

प्रेम निःसंदेहता की भूमि में उपजता है और नित्य-सम्बन्ध तथा चाहरहित होने में पुष्ट होता है। प्रेम के साम्राज्य में केवल प्रेम का ही आदान-प्रदान है। अथवा यों कहो कि प्रेमास्पद का निवास प्रेम में है और प्रेम प्रेमास्पद का स्वभाव है। इस दृष्टि से प्रेम का उदय प्रेमास्पद से अभिन्न करने में समर्थ है। अतः बुद्धि के इस ओर जो कुछ है, उसके

स्वरूप को जानना है और बुद्धि के उस ओर जो है, उस पर विश्वास करना है। बुद्धि के इस ओर जो है, उसकी ममता का त्याग करना है और बुद्धि के जो उस ओर है, उसको अपना मानना है। बुद्धि के इस ओर जो है, उसकी सेवा करनी है और बुद्धि के उस ओर जो है, उसका प्रेम होकर रहना है। सेवक में किसी प्रकार की ममता नहीं रहती और प्रेमी में अहं नहीं रहता। यह नियम है कि सेवा 'त्याग' में और त्याग उस 'प्रेम' में स्वतः बदल जाता है, जो वास्तविक जीवन है।

अचाह में अभिन्नता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि भेद का अन्त बिना हुए भय, चिन्ता, शोक आदि द्वन्द्वों की निवृत्ति सम्भव नहीं है।

अब विचार यह करना है कि भेद का स्वरूप क्या है और उसकी उत्पत्ति का हेतु क्या है? तो कहना होगा कि समस्त विश्व एक है, जीवन एक है, तत्त्व एक है, उसमें अनेकता को स्वीकार करना ही भेद का स्वरूप है और अविवेक ही उसका कारण है। अविवेक के कारण ही प्राणी शरीर और विश्व का भेद स्वीकार करता है, जो वास्तव में नहीं है। जैसे अनेक कीटाणुओं का समूह एक शरीर है, वैसे ही समस्त दृश्य का समूह एक विश्व है। वह विश्व जिसके प्रकाश से प्रकाशित है तथा जिसमें उसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय है, वह तत्त्व भी एक है। इस दृष्टि से उस एक में ही अनेकों की प्रतीति होती है; पर अनेक एक से भिन्न कभी नहीं होते। अथवा यों कहो कि अनेकता उस एक की ही विभूति-मात्र है। यद्यपि किसी भी विभूति की कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती; परन्तु जिसकी वह होती है, उससे भिन्नता का भास अवश्य होने लगता है, जो वास्तविक नहीं है।

जिस प्रकार दर्पण में दीखने वाली आकृति न तो दर्पण के ऊपर बनती है और न भीतर होती है। इतना ही नहीं,

उससे दर्पण में किसी प्रकार की विकृति भी नहीं होती। दर्पण ही आकृति के रूप में प्रतीत होता है। परन्तु प्रतीत होने पर भी दर्पण ज्यों-का-ज्यों है। हाँ, आकृति की प्रतीति का कारण अवश्य है; जैसे—दर्पण की निर्मलता, पारे का पीछे लगना और आकृति का सम्मुख होना। उसी प्रकार उस एक में अनेकता की प्रतीति का कारण देहाभिमान तथा इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का सद्भाव है। अथवा यों कहो कि भोग की रुचि ही भेद को उत्पन्न करती है, जो अविवेक-सिद्ध है।

अपने को देह न मानने पर भोग की रुचि का अन्त हो जाता है, अर्थात् स्थूल शरीर से ममता टूटते ही अशुभ प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं होती और शुभ प्रवृत्ति में आसक्ति नहीं रहती। सूक्ष्म शरीर की ममता टूटने पर व्यर्थ-चिन्तन की उत्पत्ति नहीं होती और सार्थक-चिन्तन में आसक्ति नहीं रहती। अथवा यों कहो कि सब प्रकार का चिन्तन टूट जाता है; क्योंकि कारण शरीर से ममता टूटते ही निर्विकल्प स्थिति से भी असङ्गता हो जाती है, जिसके होते ही देहाभिमान गल जाता है, फिर अनेकता का दर्शन नहीं होता। अथवा यों कहो कि एक में अनेक और अनेक में एक ही का दर्शन होता है, जिसके होते ही भेद का अन्त हो जाता है और किसी प्रकार का भय, चिन्ता, शोक आदि का द्वन्द्व नहीं रहता।

भोग की रुचि अनन्त में विश्व का दर्शन कराती है। उस रुचि का अन्त होने पर समस्त विश्व अनन्त में विलीन हो जाता है, अथवा यों कहो कि वह अनन्त की प्रीति बन जाती है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम से भिन्न कुछ है ही नहीं। प्रीति प्रीतम से और प्रीतम प्रीति से सर्वदा अभिन्न रहते हैं;

क्योंकि उन दोनों का स्वरूप एक है। केवल रस-निष्पत्ति के लिए ही दो-जैसे भासते हैं। वास्तव में तो प्रीति ने प्रीतम से भिन्न और प्रीतम ने प्रीति से भिन्न न तो किसी अन्य का दर्शन ही किया और न उन दोनों का कभी वियोग एवं मिलन हुआ; क्योंकि यही अनन्त की महिमा है। स्वरूप से मिलन और वियोग की सिद्धि अनन्त में सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से प्रीति और प्रीतम की दिव्य चिन्मय लीला सर्वदा रसरूप है।

अब विचार यह करना है कि भोग की रुचि का अन्त कैसे हो ? तो कहना होगा कि भोग की वास्तविकता का ज्ञान भोग की रुचि का अन्त कराने में समर्थ है। प्रत्येक भोग-कामना की पूर्ति के अन्त में भोगी पुनः उसी स्थिति में आता है, जिसमें भोग-कामना की उत्पत्ति से पूर्व था। कामना के उत्पत्ति काल का अभाव तथा दुःख, प्रवृत्ति-काल का श्रम तथा सुख और पूर्तिकाल की शक्तिहीनता तथा जड़ता—इनके ज्ञान से यह प्रेरणा मिलती है कि भोग-कामना की उत्पत्ति, प्रवृत्ति और पूर्ति से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती, केवल श्रम का दुर्व्यय और अभाव की उपलब्धि होती है।

यदि भोग-कामना की उत्पत्ति से पूर्व के जीवन पर दृढ़ आस्था हो जाए, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक भोग की रुचि का अन्त हो सकता है, क्योंकि कामना-उत्पत्ति से पूर्व का जीवन अभावयुक्त नहीं है, अपितु दिव्य तथा चिन्मय है।

कामना-उत्पत्ति से पूर्व के दिव्य तथा चिन्मय जीवन पर दृढ़ आस्था कैसे हो ? तो कहना होगा कि जाने हुए असत् का त्याग करने पर सत् का सङ्ग होगा और सत् का सङ्ग

होते ही दिव्य चिन्मय जीवन में आस्था स्वतः हो जाएगी। पर यह तभी सम्भव होगा, जब असत् का सदुपयोग और सत् की लालसा जागृत् हो जाए; क्योंकि सत् की लालसा ही असत् से विमुखता और सत् से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है।

अब विचार यह करना है कि असत् के सदुपयोग का वास्तविक अर्थ क्या है ? प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता तथा वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा ही असत् का सर्वोत्कृष्ट उपयोग है। यह नियम है कि जो वस्तु सेवा में लग जाती है, उससे ममता नहीं रहती और जिसकी सेवा की जाती है, उसमें सौन्दर्य आ जाता है। अतः शरीर आदि वस्तुओं के द्वारा विश्व की सेवा करने से विश्व में सौन्दर्य आ जाएगा और शरीर आदि वस्तुओं की ममता मिट जाएगी, जिसके मिटते ही सत् की वह अभिलाषा स्वतः जागृत् होगी, जो सत् से अभिन्न करने में हेतु है।

विश्व शरीर के काम आ जाए—यह स्वार्थ भिन्नता उत्पन्न करता है और शरीर विश्व के काम आ जाए—यह सेवा अभिन्नता प्रदान करती है। शरीर और विश्व का विभाजन नहीं हो सकता, केवल स्वार्थ-भाव ही भेद उत्पन्न करता है। इस दृष्टि से स्वार्थभाव का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

भेद ने संयोग-वियोग का द्वन्द्व उत्पन्न कर दिया है। भेद के मिटते ही वियोग नित्य-योग में और संयोग सेवा में विलीन हो जाएगा। यही संयोग-वियोग का वास्तविक उपयोग है। नित्य-योग में अमरत्व और सेवा में नित-नव प्रीति

निहित है। इस दृष्टि से वियोग अमरत्व और संयोग नित-नव रस का हेतु है। इतना ही नहीं, प्रीति-संयोग में भी वियोग और वियोग में भी नित्य-योग का अनुभव कराती है, जिससे उत्तरोत्तर रस की वृद्धि होती रहती है, जो वास्तविक जीवन है।

भेद का अन्त करने के लिए चाहरहित होना अनिवार्य है। चाहरहित होने पर आवश्यक चाह अपने आप पूरी हो जाती है और अनावश्यक चाह मिट जाती है। इस दृष्टि से चाह की उत्पत्ति का जीवन में भले ही स्थान हो, पर चाह करने का कोई स्थान नहीं है। प्राकृतिक नियम के अनुसार चाह एक प्रकार की भूख है। भूख का आह्वान भोगी करता है, योगी नहीं। परन्तु भूख की उत्पत्ति तो स्वाभाविक है और भोजन की प्राप्ति भी स्वत: सिद्ध है। भूख के आह्वान से, 'मैं भूखा हूँ', इससे दरिद्रता और भोजन की पराधीनता ही प्राप्त होती है, और कुछ नहीं।

भूख का आह्वान न करने से भोजन स्वयं भूख से आ मिलता है और मिलते ही दोनों का भेद मिट जाता है। अथवा यों कहो कि दोनों एक हो जाते हैं। उस समय न तो भूख 'भूख' है और न भोजन 'भोजन', अपितु एक अनुपम तृप्ति है, जो भूख और भोजन से पूर्व भी थी। इस दृष्टि से चारहित होने में ही जीवन की सार्थकता निहित है। भेद मिटते ही अपने प्रति अपनी उस प्रियता की जागृति होती है, जो नित्य है और स्वभाव-सिद्ध है। इस दृष्टि से चाहरहित होने पर अथवा यों कहो कि भेद मिटने पर जो प्रियता जागृत् होती है, वही दिव्य चिन्मय प्रीति है। प्रीति पूर्ति और

निवृत्ति के द्वन्द्व से रहित हैं। इसी कारण नित-नव तथा अनन्त है। अथवा यों कहो कि अनन्त का मिलन भी अनन्त है और अनन्त का वियोग भी अनन्त है।

समस्त विश्व को जिसने अपने में अपने ही द्वारा आप निर्मित किया है, उसकी सभी के प्रति अगाध प्रियता है, तो फिर चाह और चिन्ता के लिए स्थान ही कहाँ है? चाह करना तो अपने और प्रेमास्पद के बीच काल्पनिक भेद उत्पन्न करना है, और कुछ नहीं; क्योंकि स्वरूप से तो समस्त विश्व उन्हीं की अभिव्यक्ति है। अत: सब प्रकार की चाह से रहित होकर भेद का अन्त करना है, जिसके होते ही भोग 'योग' में, मृत्यु 'अमरत्व' में और समस्त आसक्तियाँ उस दिव्य चिन्मय 'प्रीति' में विलीन हो जाएंगी, जो वास्तविक जीवन है।

(३२)

श्रमरहित साधन

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि आलस्य और श्रमरहित साधन तथा वियोग और सीमा से रहित साध्य की प्राप्ति में ही जीवन की सार्थकता निहित है। श्रम तथा आलस्य का जन्म सीमित अहंभाव से होता है। अतः उसके द्वारा किये हुए साधन से उसी साध्य की उपलब्धि हो सकती है, जिसका वियोग अनिवार्य है, जिसमें जीवन नहीं है, रस नहीं है; अपितु अनेक प्रकार के अभाव-ही-अभाव हैं, जो किसी को अभीष्ट नहीं हैं।

सीमित अहं का स्वरूप है—करने की रुचि, पाने का लालच और जीने की आशा। करने की रुचि का उपयोग आलस्यरहित तथा लालचरहित होकर दूसरों के अधिकार की रक्षा में है और जीने की आशा का उपयोग अमर होने में है। पर ऐसा न करके हम अपने अधिकार को सुरक्षित रखने के लिए श्रम का, दूसरों के अधिकार की रक्षा में आलस्य का एवं सुख-भोग के लिए जीने की आशा का उपयोग करते हैं, जिसके परिणाम केवल अनेक प्रकार के भय, शोक और मृत्यु आदि हैं।

श्रम का सदुपयोग करने पर विश्राम स्वतः आ जाता

है और आलस्य मिट जाता है। विश्राम आते ही और आलस्य मिटते ही श्रमरहित साधन स्वतः अभिव्यक्त होता है, जो वियोगरहित साध्य से अभिन्न करने में समर्थ है। श्रम का सदुपयोग वही कर सकता है, जो दूसरों के अधिकार की रक्षा को ही अपना कर्त्तव्य मानता है। अपने अधिकार का त्याग करने पर ही विश्राम मिल सकता है। अतः अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार की रक्षा में ही श्रम का सदुपयोग, विश्राम की प्राप्ति और श्रमरहित साधन की जागृति निहित है।

श्रमरहित साधन का आरम्भ समर्पित होने में, मध्य नित्य-योग में और अन्त प्रेम-प्राप्ति में है। करने की रुचि का अन्त समर्पण में, अमरत्व की प्राप्ति नित्य-योग में एवं अगाध अनन्त रस की उपलब्धि प्रेम में निहित है।

करने की रुचि रखते हुए जो करना है, उसे न करना आलस्य को जन्म देता है, जो करने की रुचि को जीवित रखने में हेतु है। करने की रुचि और आलस्य, यह द्वन्द्व ही सीमित अहभाव को जीवित रखता है, और समर्पण नहीं होने देता। सीमित अहंभाव के रहते हुए भेद का अन्त नहीं हो सकता और भेद का अन्त बिना हुए अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से भेद का अन्त करने के लिए सीमित अहंभाव का अन्त करना अनिवार्य है, जो श्रम-रहित साधन, अर्थात् समर्पण से ही सम्भव है।

विकल्परहित विश्वास के बिना समर्पित होने की योग्यता तो नहीं आती; परन्तु प्राप्त विवेक के प्रकाश में 'यह'

को 'यह' जानकर 'यह' से विमुख होकर जो सभी से अतीत है, उससे अभिन्न हो सकते हैं। इस दृष्टि से प्राप्त विवेक के द्वारा भी श्रमरहित साधन का निर्माण हो सकता है। अन्तर केवल इतना है कि समर्पण मानकर और विवेक जानकर होता है। विवेक और विश्वास दोनों से ही श्रमरहित साधन का उदय हो सकता है।

अब विचार यह करना है कि 'यह' को 'यह' जानने का अर्थ क्या है? तो कहना होगा कि इन्द्रियों की दृष्टि से समस्त विश्व का अर्थ 'यह' है, बुद्धि की दृष्टि से मन का अर्थ 'यह' है और अन्तर्दृष्टि से बुद्धि का अर्थ भी 'यह' है। इस प्रकार इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि समस्त दृश्य से विमुख होना है, जिसके होते ही अन्तर्दृष्टि स्वयं अनन्त से अभिन्न कर देगी, फिर सीमित अहंभाव-जैसी कोई वस्तु शेष नहीं रहेगी।

प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय करने पर अथवा असमर्थ होने पर श्रमरहित साधन स्वतः उत्पन्न होता है। पर कब? जब साधक साध्य से निराश न हो; क्योंकि साध्य की लालसा, प्राप्त सामर्थ्य का सद्व्यय और समर्पण करा देने में समर्थ है। वियोगरहित साध्य की लालसा तभी सबल तथा स्थाई हो सकती है, जब संयोग जनित दासता का अन्त कर दिया जाए। संयोगजनित दासता का अन्त करने के लिए सामर्थ्य के अनुरूप सेवा और विवेकपूर्वक त्याग अपेक्षित है।

संयोगजनित दासता का अन्त होते ही अचाह पद प्राप्त होगा, अथवा एक ऐसी चाह उत्पन्न होगी, जो न कभी मिटेगी और न जिसकी पूर्ति होगी, अर्थात् पूर्ति-निवृत्ति से रहित

चाह का उदय होगा। अचाह पद अप्रयत्नपूर्वक अमरत्व से अभिन्न करने में समर्थ है और पूर्ति-निवृत्ति से रहित चाह दिव्य चिन्मय प्रीति की जागृति में हेतु है।

चाहरहित होना अथवा पूर्ति-निवृत्ति के रहित चाह का उदय होना तभी सम्भव है, जब 'यह' से विमुखता और 'है' से अभिन्नता प्राप्त हो। 'यह' से विमुखता विवेक-साध्य है और 'है' से अभिन्नता नित्य-सम्बन्ध से साध्य है। नित्य-सम्बन्ध विश्वासपूर्वक निःसंदेह होने पर ही सम्भव है और विवेक की जागृति दृश्य पर संदेह होने पर ही सम्भव है। जिसे दृश्य पर संदेह नहीं होता, वह संयोग की दासता में आबद्ध हो जाता है, जो वियोग का भय उत्पन्न करने में हेतु है। उसका जीवन चाह की अपूर्ति के दुःख और पूर्ति के सुख में आबद्ध हो जाता है। चाह की अपूर्ति और पूर्ति का द्वन्द्व न तो चाहरहित होने देता है और न पूर्ति-निवृत्तिरहित वास्तविक चाह का उदय ही होने देता है। अथवा यों कहो कि चाह की अपूर्ति और पूर्ति का द्वन्द्व न तो अमरत्व की प्राप्ति होने देता है और न प्रेम को ही, जो वियोग-रहित साध्य है।

अमरत्व की प्राप्ति में सर्व दुःखों का अन्त है, अर्थात् अभाव का अभाव है। पूर्ति-निवृत्तिरहित चाह अर्थात् दिव्य चिन्मय प्रीति में नित-नव रस है। दुःखों का अन्त, नित्य-जीवन की प्राप्ति एवं अगाध अनन्त रस की उपलब्धि, श्रमरहित साधन और वियोगरहित साध्य में निहित है।

जो रस नीरसता में, जो जीवन मृत्यु में और जो संयोग

वियोग मेंबदल जाता है, वह भोग है और अविवेक-सिद्ध है। भोग में श्रमयुक्त साधन है, उसके परिणाम में अभाव है। अमरत्व में श्रमरहित साधन है और नित्य-योग है। प्रीति में श्रमरहित गतिशीलता है, जो वियोग में मिलन और मिलन में वियोग का भास कराकर अगाध अनन्त रस प्रदान करने में समर्थ है।

श्रमरहित साधन और वियोगरहित साध्य की प्राप्ति विश्वासपूर्वक समर्पण में अथवा विवेकपूर्वक अविवेक का अन्त करने में निहित है, जो वर्तमान जीवन की वस्तु है। वर्तमान कार्य को भविष्य पर छोड़ना प्रमाद है। अतः इसको सर्व प्रथम कार्य जानकर श्रमरहित साधन निर्माण करने के लिए निज-विवेक का आदर तथा प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करना अनिवार्य है।

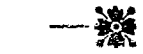

साधन-भेद और साध्य की एकता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि निर्मोहता, परिस्थिति के सदुपयोग और समर्पण में ही समस्त साधन-तत्त्व विद्यमान है, क्योंकि प्रत्येक साधक में बीज रूप मे विवेक-शक्ति, श्रम-शक्ति और भाव की शक्ति विद्यमान है। विवेक-शक्ति के सदुपयोग में निर्मोहता, श्रम-शक्ति के उपयोग में परिस्थिति का सदुपयोग और समर्पण में भाव-शक्ति की परावधि निहित है। परन्तु व्यक्तिगत भेद से किसी में विवेक-शक्ति, किसी में भाव-शक्ति तथा किसी में श्रम-शक्ति मुख्य और अन्य शक्तियाँ गौण रूप से रहती हैं। जो शक्ति मुख्य रूप से होती है, उसी के आधार पर साधन का आरम्भ होता है; परन्तु शेष दो शक्तियों का उपयोग भी स्वत: हो जाता है।

समस्त शक्तियों का उपयोग होने पर साधक साधन-तत्त्व से अभिन्न होकर साध्य को प्राप्त कर लेता है। साधन अनेक और साध्य एक है। इस कारण समस्त साधक एक ही साध्य मे अभिन्न हो जाते हैं। साधन-भेद होने पर भी साध्य का भेद नहीं होता। इस दृष्टि से सभी साधन आदरणीय हैं।

विवेक-शक्ति का उपयोग साधक को निर्मोहता प्रदान करता है। मोहरहित होते ही समस्त आसक्तियाँ स्वत: मिट जाती हैं। उनके मिटते ही स्वभाव से ही परिस्थिति का

सदुपयोग होने लगता है। परिस्थिति का सदुपयोग होने पर प्राप्त परिस्थिति से असङ्गता आ जाती है और अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिट जाती है, जिसके मिटते ही निष्कामता स्वतः आ जाती है। निष्कामता आते ही अहंभाव अनन्त में स्वतः समर्पित हो जाता है; क्योंकि कामरहित होते ही भिन्नता स्वतः मिट जाती है। इस दृष्टि से विवेक-शक्ति का उपयोग करने पर श्रम तथा भाव-शक्ति का उपयोग स्वतः हो जाता है; क्योंकि निर्मोहता में कर्तव्यनिष्ठा तथा समर्पण निहित है।

श्रमशक्ति का सदुपयोग करने के लिए भी भाव तथा विवेक-शक्ति का उपयोग अनिवार्य है; क्योंकि परिस्थिति का सदुपयोग करने के लिए कर्तव्य का ज्ञान तथा पवित्र भाव अपेक्षित हैं। कर्तव्य का ज्ञान विवेक में निहित है; क्योंकि अपने प्रति होने वाली बुराई का ज्ञान सभी को है। इस दृष्टि से विवेक में बुराई का ज्ञान विद्यमान है। बुराई का त्याग करने पर भलाई स्वतः उत्पन्न होती है।

उत्पन्न हुई भलाई के आधार पर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने से परिस्थिति से असंगता स्वतः आ जाएगी और अप्राप्त परिस्थिति की चाह मिट जाएगी। परिस्थिति की असंगता निर्मोहता और अप्राप्त परिस्थिति की चाह का अन्त निष्कामता प्रदान करेगा। निष्कामता तथा निर्मोहता प्राप्त होने पर सब प्रकार के भेद का अन्त स्वतः हो जाएगा, जो अनन्त से अभिन्न करने में समर्थ है।

भाव-शक्ति का सदुपयोग करने के लिए भी विवेक की आवश्यकता है, क्योंकि विवेक के बिना सर्वात्मभाव अथवा समस्त विश्व से सम्बन्ध-विच्छेद सम्भव नहीं है। सम्बन्ध-

विच्छेद के बिना उस अनन्त से नित्य-सम्बन्ध हो नहीं सकता और श्रम-शक्ति के बिना उस अनन्त के नाते सर्वात्म-भाव से परिस्थिति का सदुपयोग सम्भव नहीं है। इस दृष्टि से भाव-शक्ति के सदुपयोग के लिए भी विवेक-शक्ति तथा श्रम-शक्ति अनिवार्य है। अनन्त के नाते सर्वात्म-भाव से की हुई प्रवृत्ति स्वभाव से ही निवृत्ति में विलीन हो जाएगी, जिसके होते ही स्वत: स्मृति जागृत् होगी, जो अन्य की विस्मृति करके अनन्त से अभिन्न कर देगी।

प्रत्येक साधक को शरीर, हृदय और मस्तिष्क प्राप्त हैं। शरीर द्वारा श्रमपूर्वक परिस्थिति का सदुपयोग, हृदय द्वारा सरल विश्वासपूर्वक समर्पण और मस्तिष्क द्वारा विवेक-पूर्वक निर्मोहता प्राप्त करना परम आवश्यक है। निर्मोहता 'नित्य-जीवन', परिस्थिति का सदुपयोग 'वीतरागता' और समर्पण 'प्रेम' प्रदान करता है। मोहरहित हुए बिना अमरत्व की, वीतराग हुए बिना नित्य-योग की और प्रेम के बिना अगाध अनन्त रस की उपलब्धि नहीं हो सकती।

नित्य-योग, नित्य-जीवन और अगाध अनन्त रस—इन तीनों का विभाजन उसी प्रकार नहीं हो सकता, जिस प्रकार वर्तमान जीवन में-से शरीर, हृदय और मस्तिष्क का विभाजन नहीं हो सकता। केवल नित्य-जीवन को लेकर तत्त्व-ज्ञान, नित्य-योग को लेकर चिर-शान्ति और केवल प्रेम को लेकर अगाध अनन्त रस की चर्चा तो की जा सकती है, पर रसरहित जीवन, जीवनरहित रस और शान्तिरहित रस तथा जीवन किसी को अभीष्ट नहीं है। सभी को चिर-शान्ति, अमरत्व और नित-नव रस की अपेक्षा है।

इस दृष्टि से सभी साधकों का साध्य एक है और प्रत्येक साधन में सभी साधनों का समावेश है। साधन के आरम्भ का भेद और मान्यता का भेद वास्तविक भेद नहीं है। विवेकी का अहंभाव परम-तत्त्व से अभिन्न हो जाता है, योगी का चिर-शान्ति में विलीन हो जाता है और प्रेमी का प्रेम होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। साधक एक है, जीवन एक है और साध्य भी एक है। इस कारण निर्मोहता, परिस्थिति का सदुपयोग एवं समर्पण—तीनों ही साधन-पद्धतियों को अपनाना है। चाहे निर्मोहतापूर्वक परिस्थिति के सदुपयोग और समर्पण को, चाहे समर्पण से निर्मोहता और परिस्थिति के सदुपयोग को अथवा परिस्थिति के सदुपयोग से समर्पण और निर्मोहता को प्राप्त किया जाए।

किसी एक की पूर्णता में सभी की पूर्णता स्वतः सिद्ध है। अतः साधन भेद होने पर भी प्रीति-भेद तथा साध्य-भेद के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। साधन का आरम्भ चाहे जिस पद्धति के अनुसार हो, परन्तु अन्त में तो सभी साधन एक होकर साध्य से अभिन्न हो जाते हैं, जो वास्तविक जीवन है।

(३४)

बाह्य दृष्टियों का सदुपयोग

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि बाह्य और अन्तर्दृष्टि का समूह ही वर्तमान जीवन है और इन दृष्टियों के सदुपयोग में ही वास्तविक जीवन की प्राप्ति है।

बाह्य दृष्टि के दो भाग हैं—एक इन्द्रिय-दृष्टि और दूसरी बुद्धि-दृष्टि। इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग सेवा में और दुरुपयोग राग की उत्पत्ति में तथा बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग रागरहित होने में और दुरुपयोग विवाद में निहित है। दृष्टि के सदुपयोग में साधन का निर्माण और दुरुपयोग में साधन से विमुखता रहती है।

अब देखना यह है कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग हो रहा है अथवा दुरुपयोग? यदि दुरुपयोग हो रहा है, तो समझना चाहिए कि इन्द्रिय-दृष्टि पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव और बुद्धि-दृष्टि पर अन्तर्दृष्टि का प्रभाव नहीं है। इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग करने के लिए उस पर बुद्धि-दृष्टि का प्रभाव होना अनिवार्य है और बुद्धि-दृष्टि का सदुपयोग तभी सम्भव होगा, जब उस पर अन्तर्दृष्टि का प्रभाव हो। अन्तर्दृष्टि बुद्धि-दृष्टि में शुद्धता लाती है और बुद्धि-दृष्टि इन्द्रिय-दृष्टि की जड़ता का

अपहरण करती है। फिर इन्द्रियों के द्वारा यथेष्ट सेवा होने लगती है, अथवा अनुपम रचना तथा सौन्दर्य को देखकर अनन्त नित्य सौन्दर्य की वह लालसा जागृत् हो जाती है, जो राग को अनुराग में बदल देती है। यही इन्द्रिय-दृष्टि का वास्तविक उपयोग है। बुद्धि-दृष्टि की शुद्धता रागरहित कर देती है और इन्द्रिय-दृष्टि को अपने में विलीन करके अन्तर्दृष्टि को जागृत् करती है।

अन्तर्दृष्टि का वर्णन सम्भव नहीं है, पर उसका जागृत् करना अनिवार्य है; क्योंकि वर्णन करने के लिए तो बाह्य दृष्टि का आश्रय लेना होगा। अतः अन्तर्दृष्टि का वर्णन नहीं हो सकता, पर उसको प्राप्त किया जा सकता है। बाह्य दृष्टि का सदुपयोग ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होता जाता है, त्यों-त्यों अन्तर्दृष्टि स्वतः जागृत् होती जाती है। अब विचार यह करना है कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग क्या है? तो कहना होगा कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग करने के लिए सर्व प्रथम स्वार्थभाव का अन्त करना होगा। उसके होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति सेवा-भाव से स्वतः होने लगेगी। यह नियम है कि सेवा-भाव से की हुई प्रवृत्ति हृदय में अनुराग जागृत् करती है और उस प्रवृत्ति के अन्त में स्वभाव से ही वह सहज निवृत्ति आ जाती है, जिसके आते ही चिर-शान्ति अथवा मधुर स्मृति स्वतः होने लगती है। चिर-शान्ति से नित्य-योग तथा मधुर स्मृति से प्रिय से भिन्न की विस्मृति स्वतः होने लगती है, फिर बाह्य दृष्टि स्वतः अन्तर्दृष्टि में विलीन होजाती है।

यद्यपि अन्तर्दृष्टि अहं एवं मम से रहित है, परन्तु जब तक अहं तथा मम का नितान्त अभाव नहीं हो जाता, तब तक

अन्तर्दृष्टि में भी बाह्य दृष्टि के समान दिव्य दृश्य की प्रतीति होती रहती है। बाह्य दृष्टि की अपेक्षा अन्तर्दृष्टि सूक्ष्म तथा विभु होती है। इस स्थिति में अनेक प्रकार की सिद्धियाँ आने लगती हैं। विवेक-दृष्टि से वह भी बाह्य दृष्टि ही है। आई हुई सिद्धियों का भोग न करने से अन्तर्दृष्टि जागृत् होगी, जो अहं तथा मम को खाकर सब प्रकार की दूरी तथा भेद का अन्त कर देगी।

अब विचार यह करना है कि बाह्य दृष्टि का सदुपयोग करने पर अन्तर्दृष्टि में दिव्य दृश्य की उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि अहंभाव का अस्तित्व रहते हुए किसी-न-किसी प्रकार का राग शेष रहता है, यद्यपि वह राग बाह्य प्रवृत्तियों में हेतु नहीं है; क्योंकि संयम तथा तप का बल उस राग को बाह्य क्रियात्मक रूप में परिणत नहीं होने देता। उस राग की निवृत्ति के लिए अन्तर्दृष्टि में दिव्य दृश्य की उत्पत्ति होती है। ज्यों-ज्यों चिर-शान्ति और अनुराग दृढ़ होता जाता है, त्यों-त्यों अहंभाव गलता जाता है। अहंभाव का अन्त होते ही अन्तर्दृष्टि अन्तर्दृश्य को अपने में विलीन कर अनन्त से अभिन्न कर देती है, जो वास्तविक जीवन है।

जब-जब बाह्य दृष्टि का स्फुरण हो, तब-तब स्वभाव से ही उसका सदुपयोग होना चाहिए। इन्द्रिय-दृष्टि का सदुपयोग 'सेवा' में और बुद्धि-दृष्टि का 'रागरहित' होने में है। सेवा-भाव 'करने की रुचि' का अन्त कर देगा और इन्द्रिय-दृष्टि को बुद्धि-दृष्टि में विलीन कर देगा। इन्द्रिय-दृष्टि का बुद्धि-दृष्टि में विलय होते ही वह निर्विकल्पता स्वतः आ

जाएगी, जो अन्तर्दृष्टि की भूमि है। अथवा यों कहो कि निर्विकल्पता बाह्य दृष्टि का स्फुरण नहीं होने देगी। निर्विकल्पता आने पर अनन्त की कृपा-शक्ति अप्रयत्न रूप से अन्तर्दृष्टि जागृत् करेगी। अन्तर्दृष्टि नित्य-योग प्रदान करके सब प्रकार के अभाव का अभाव कर चिन्मय राज्य में प्रवेश करा देगी।

बाह्य दृष्टि के सदुपयोग में अन्तर्दृष्टि की जागृति और अन्तर्दृष्टि की जागृति में चिर-शान्ति, अमरत्व एवं परम प्रेम की उपलब्धि निहित है। बाह्य दृष्टि के उपयोग में भले ही भेद हो, परन्तु अन्तर्दृष्टि में किसी प्रकार का भेद नहीं है, क्योंकि भेद 'अहं' से उत्पन्न होता है और अन्तर्दृष्टि 'अहं' को खा लेती है; अतः भेद का अन्त हो जाता है। अन्तर्दृष्टि नित्य चिन्मय ज्योति है, जो सभी को स्वभाव से प्राप्त है; परन्तु उसकी जागृति के लिए बाह्य दृष्टि का सदुपयोग अनिवार्य है।

(३५)

चिर-शान्ति और सरसता

जीवन का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट विदित होता है कि जीवन के दो प्रधान अङ्ग हैं—क्रियाशीलता और चिर-शान्ति। क्रियाशीलता वर्तमान को सरस बनाती है और चिर-शान्ति चिन्मय नित्य जीवन से अभिन्न करती है। जब तक जीवन में नीरसता निवास करती है, तब तक वर्तमान सरस नहीं हो पाता; क्योंकि नीरसता व्यर्थ-चिन्तन उत्पन्न करती है, अथवा यों कहो कि अप्राप्त परिस्थिति की रुचि उत्पन्न करती है और वर्तमान का सदुपयोग नहीं होने देती। यद्यपि प्रत्येक परिस्थिति प्राकृतिक न्याय है और उसके सदुपयोग में ही प्राणी का हित निहित है, परन्तु यह रहस्य कोई बिरले ही जान पाते हैं; क्योंकि वर्तमान की सुख-लोलुपता प्रतिकूलता में नीरसता उत्पन्न कर देती है।

यदि प्रतिकूलता के भय से भयभीत न हो, अपितु आए हुए दुःख को हर्षपूर्वक सहन कर लिया जाए, तो उस दुःख में ही सरसता आ जाएगी और नीरसता मिट जाएगी। नीरसता के मिटते ही स्वतः वर्तमान का सदुपयोग होने लगेगा, जो विकास का मूल है। यदि आए हुए दुःख को सहर्ष सहन न किया गया, तो नीरसता व्यर्थ-चेष्टाओं को उत्पन्न करेगी, जिससे अमूल्य समय बरबाद होगा, जो किसी भी वस्तु के

बदले में मिल नहीं सकता। इस दृष्टि से नीरसता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब विचार यह करना है कि नीरसता का उद्गम स्थान क्या है? तो कहना होगा कि नीरसता का उद्गम स्थान है, विषय-रस का सेवन, अर्थात् विषय-सुख में वह जीवन-बुद्धि है, जो अविवेकसिद्ध है।

प्राकृतिक नियम के अनुसार जो सुख-भोग विकास में बाधक होता है, उसका राग मिटाने के लिए ही प्रतिकूल परिस्थिति आती है और जो सुख विकास में साधक होता है, उसकी पूर्ति के लिए अनुकूल परिस्थिति आती है; अथवा यों कहो कि प्रतिकूलता जागृति के लिए आती है और अनुकूलता उदार बनाने के लिए। परन्तु जो दुःख में जागृत् नहीं होता और सुख में उदार नहीं रहता, वही परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होता है और उसी के जीवन में नीरसता निवास करती है।

अब विचार यह करना है कि क्या सुख-भोग का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है? तो कहना होगा कि सुख की वास्तविकता जानने के लिए सुख देने का स्थान है, लेने का नहीं। इस दृष्टि से परस्पर में सुख देने की ही रुचि रहनी चाहिए, लेने की नहीं। सुख देने की रुचि सुख-भोग की आसक्ति को खा लेती है। फिर साधक सुगमतापूर्वक सुख की दासता से मुक्त हो जाता है, क्योंकि सुख देने की लालसा 'त्याग' और 'प्रेम' को पुष्ट करती है। अतः सुख देने के लिए ही मिला है, भोग के लिए नहीं। सुख देने का जो सुख है, वह साधक को उदार बनाता है। उदारता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थाई होती

जाती है, त्यों-त्यों संकीर्णता मिटती जाती है और जीवन में व्यापकता आती जाती है। अथवा यों कहो कि उदारता स्नेह की एकता उत्पन्न करती है और प्रतिकूलता, अर्थात् दुःख जागृति उत्पन्न करता है। जागृति जड़ता का अपहरण करती है। जड़ता का अपहरण होते ही प्रतिकूलता का भय स्वतः मिट जाता है और वह प्रकाश मिलता है, जो मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने में समर्थ है। इस दृष्टि से अनुकूलता तथा प्रतिकूलता दोनों ही साधन-सामग्री हैं, और कुछ नहीं।

साधन-सामग्री के उपयोग की महत्ता है, सामग्री की नहीं। इस दृष्टि से अनुकूलता और प्रतिकूलता कुछ अर्थ नहीं रखतीं, उनका सदुपयोग अर्थ रखता है। नीरसता तभी तक निवास करती है, जब तक वर्तमान का सदुपयोग नहीं करते। वर्तमान का सदुपयोग वर्तमान से सम्बन्ध-विच्छेद कर शान्ति से अभिन्न करता है और फिर नीरसता सदा के लिए विदा हो जाती है। वर्तमान का सदुपयोग करने के लिए—सर्वप्रथम कठिनाइयों को हर्षपूर्वक सहन करने का स्वभाव बनाना होगा, समस्त दृश्य से विमुख होकर अपने ही में अपने प्रीतम को पाना होगा, प्रवृत्ति द्वारा दूसरों के हित तथा प्रसन्नता को सुरक्षित रखना होगा, अथवा दिव्य चिन्मय प्रीति होकर रहना होगा।

कठिनाई का भय कठिनाई को सुदृढ़ बनाता है, और कुछ नहीं। अतः कठिनाइयों से भयभीत होना भूल है। प्रत्येक संयोग निरन्तर वियोग की अग्नि में जल रहा है। अतः संयोग की आशा कुछ अर्थ नहीं रखती। दोषयुक्त प्रवृत्ति न तो प्रवृत्ति की दासता से मुक्त होने देती है और न अनुकूल परिस्थिति

ही उत्पन्न होने देती है। अतः दोषयुक्त प्रवृत्ति का जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। समस्त आसक्तियाँ केवल बन्धन का ही हेतु हैं। अतः उनका अन्त कर दिव्य चिन्मय प्रीति बन जाने में ही नित-नव रस है। इस दृष्टि से आसक्ति सर्वथा त्याज्य है।

कामनाओं और जिज्ञासा का समूह ही सीमित अहंभाव है। वर्तमान का सदुपयोग कामना-निवृत्ति और जिज्ञासा पूर्ति में समर्थ है। वर्तमान का सदुपयोग होते ही दिव्य चिन्मय प्रीति स्वतः जागृत् होती है। वर्तमान का सदुपयोग ही क्रियाशीलता की परावधि है, उसके होते ही साधक चिर-शान्ति से अभिन्न होने का अधिकारी हो जाता है। चिर-शान्ति और क्रियाशीलता दोनों एक ही जीवन के मुख्य अङ्ग हैं; क्योंकि दोनों का उद्देश्य एक है। चिर-शान्ति कोई अवस्था नहीं है, क्योंकि सभी अवस्थाओं से विमुख होने पर ही चिर-शान्ति से अभिन्नता होती है, अथवा यों कहो कि चिर-शान्ति अन्तर्ज्योति से अभिन्न करती है, जो स्वयं प्रकाश है।

सभी अवस्थाएँ पर-प्रकाश्य हैं; चाहे क्रियाशील अवस्था हो अथवा निष्क्रिय। अन्तर केवल इतना है कि निष्क्रिय अवस्था क्रियाशीलता को शक्ति प्रदान करती है और क्रियाशीलता शक्ति का व्यय करती है। इसी कारण क्रियाशीलता सर्वदा निष्क्रियता में विलीन होती है और प्रत्येक क्रियाशीलता निष्क्रियता से ही उत्पन्न होती है। अथवा यों कहो कि गति स्थिरता से ही उत्पन्न होकर स्थिरता में ही विलीन होती है। परन्तु चिर-शान्ति गति और स्थिरता दोनों से ही अतीत है। चिर-शान्ति प्राप्त होने पर सभी साधक समान

स्थिति में आ जाते हैं, किसी प्रकार का वैषम्य नहीं रहता, क्योंकि चिर-शान्ति दोषरहित और गुणों से अतीत है। जब तक गुण और दोष का द्वन्द्व रहता है, तब तक चिरशान्ति में प्रवेश नहीं होता। सभी दोषों का मूल अधिकार-लालसा में और सभी गुणों का विकास दूसरों के अधिकार की रक्षा में निहित है।

अब विचार यह करना है कि अधिकार-लालसा की उत्पत्ति क्यों होती है? तो कहना होगा कि जब तक प्राणी अपने अस्तित्व को किसी की भी उदारता पर जीवित रखता है, तब तक अधिकार-लोलुपता उत्पन्न होती रहती है। यद्यपि जिस अस्तित्व की सिद्धि किसी अन्य पर निर्भर है, वह वास्तव में अस्तित्व ही नहीं है। परन्तु प्रमादवश प्राणी उसे अस्तित्व मान लेता है; वास्तव में तो वह केवल दूसरों के अधिकारों का समूह है, और कुछ नहीं। जिन्हें हमने अपना मान लिया है, अथवा जिन्होंने हमें अपना मान लिया है, उनके अधिकार की रक्षा और अपने अधिकार का त्याग करने पर वह अस्तित्व, जो अधिकार-लालसा पर जीवित था, मिट जाता है। उसके मिटते ही चिर-शान्ति से अभिन्नता स्वतः हो जाती है। इस दृष्टि से क्रियाशीलतापूर्वक दूसरों के अधिकार की रक्षा करने तक ही अपना अधिकार है। किसी से अधिकार माँगने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

अब विचार यह करना है कि दूसरों के अधिकार की रक्षा में यदि हम अपने को असमर्थ पाते हैं, तो साधन का निर्माण कैसे होगा? ऐसी दशा में किसी का अहित न चाहना ही साधन हो जाता है। साधक के जीवन में किसी के अहित

करने तथा चाहने का स्थान ही नहीं है। असमर्थता में किसी का अहित तो हो ही नहीं सकता, क्योंकि अहित करने के लिए भी तो सामर्थ्य अपेक्षित है। समर्थ दशा में सर्वहितकारी चेष्टाओं से जो शुद्धि आती है, वही शुद्धि असमर्थता में किसी का अहित न चाहने से आ जाती है। इस दृष्टि से असमर्थता साधन-निर्माण में बाधक नहीं है। साधन-निर्माण में बाधक तो एकमात्र सामर्थ्य का दुरुपयोग ही है, और कुछ नहीं।

शुद्धता आते ही अशुभ संकल्प मिट जाते हैं और शुभ संकल्प स्वभाव से ही पूरे हो जाते हैं। पर संकल्पपूर्ति के सुख में आबद्ध साधक चिर-शान्ति से अभिन्न नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध संकल्पों की पूर्ति का सम्बन्ध केवल दूसरों के अधिकार की रक्षा से है, अपनी इच्छापूर्ति से नहीं। दूसरों के अधिकार की रक्षा स्वार्थ-भाव गलाने में है, सुख-भोग में नहीं। अथवा यों कहो कि दोष के त्याग में शुद्ध संकल्पों की पूर्ति निहित है।

संकल्पपूर्ति का सम्बन्ध भविष्य से है और चिर-शान्ति वर्तमान जीवन की वस्तु है। अतः चिर-शान्ति के अधिकारी को अपने को शुद्ध संकल्प की पूर्ति के सुख से भी असङ्ग करना होगा।

शुद्ध संकल्पों का प्रवाह भी सीमित अहंभाव को जीवित रखना है। इतना ही नहीं, संकल्प-निवृत्ति से उत्पन्न होने वाली निर्विकल्प स्थिति भी अहंभाव को नाश नहीं होने देती। यह नियम है कि जब तक सीमित अहंभाव गल नहीं जाता, तब तक उस अनन्त नित्य चिन्मय जीवन से अभिन्नता नहीं हो सकती, जो चिर-शान्ति में निहित है।

यदि कोई कहे कि शुद्ध संकल्पों का निरन्तर प्रवाह तोड़ दिया गया, तो हमारा विकास ही रुक जाएगा, क्योंकि अपने विकास के लिए सद्भावनाओं को बनाए रखना अनिवार्य है। तो कहना होगा कि दुर्भावना रूपी रोग के नाश के लिए सद्भावना औषधि है। प्राकृतिक नियम के अनुसार रोग और औषधि का मिलन होने पर दोनों की सत्ता मिट जाती है और सदैव रहनेवाली नीरोगता आ जाती है। इस प्रकार सद्भावना दुर्भावना को खाकर स्वत: मिट जाती है। यदि नहीं मिटी है, तो समझना चाहिए कि अभी दुर्भावना मौजूद है। हाँ, यह अवश्य है कि सद्भावना का त्याग नहीं किया जाता, पर उनकी पूर्णता स्वयं उसके गलाने में समर्थ है।

शुद्ध संकल्प की पूर्ति कहो अथवा कर्तव्यनिष्ठा कहो, यह साधक के जीवन का बाह्यरूप है और निर्विकल्प-स्थिति साधक के जीवन का आन्तरिक रूप है। पर चिर-शान्ति तो इन दोनों से अतीत है। शुद्ध संकल्पों की पूर्ति से सुन्दर समाज का निर्माण होता है और आदर मिलता है तथा संकल्प-निवृत्ति से दु:खों का अन्त होता है। पर दिव्य चिन्मय नित्य जीवन की प्राप्ति के लिए तो संकल्प-निवृत्ति से अतीत चिर-शान्ति से अभिन्न होना अनिवार्य है। निर्विल्पस्थिति शुद्ध संकल्पों की पूर्ति को सामर्थ्य प्रदान करती है और शुद्ध संकल्पों की पूर्ति के सुख का त्याग निर्विकल्पस्थिति को पुष्ट करता है। इस दृष्टि से निर्विकल्पस्थिति तथा शुद्ध संकल्प की पूर्ति का पारस्परिक सम्बन्ध है, अथवा यों कहो कि शुद्ध संकल्प की पूर्ति उत्कृष्ट भोग और निर्विकल्पस्थिति भोग के राग का अन्त करने वाला योग है। चिर-शान्ति के लिए भोग का त्याग और योग से असङ्गता अनिवार्य है।

शुद्ध संकल्प की पूर्ति में जो अभाव प्रतीत होता है, उसका एकमात्र कारण यह है कि हम शुद्ध संकल्प के द्वारा भी अपना ही सुख चाहते हैं, दूसरों का हित नहीं। यह वास्तव में शुद्धता के रूप में अशुद्धता है। प्राकृतिक नियम के अनुसार शुद्ध संकल्प की उत्पत्ति के साथ-साथ अथवा उसके पूर्व उसकी पूर्ति की सामर्थ्य आनी चाहिए, क्योंकि शुद्ध संकल्प की पूर्ति समष्टि शक्ति का कार्य है, व्यक्ति का नहीं।

चिर-शान्ति प्राप्त जीवन में होने वाली प्रवृत्तियाँ सभी के लिए हितकर तथा रसरूप होती हैं। जब तक ऐसा न हो, तब तक संकल्प-निवृत्ति के लिए अथक प्रयत्नशील रहना चाहिए।

संकल्प-निवृत्ति पराधीनता से स्वाधीनता की ओर और शक्तिहीनता से शक्ति संचय की ओर ले जाती है। संचित शक्ति से शुद्ध संकल्प की पूर्ति तथा स्वाधीनता से चिर-शान्ति की ओर प्रगति होती है। यदि शुद्ध संकल्प की पूर्ति का आस्वादन किया, तो चिर-शान्ति की ओर होने वाली प्रगति रुक जाएगी। यदि चिर-शान्ति में ही सन्तुष्ट हो गए, तो दिव्य चिन्मय प्रीति की जागृति नहीं होगी।

शुद्ध संकल्प की पूर्ति राग की निवृत्ति के लिए, निर्विकल्प स्थिति सामर्थ्य के लिए और चिर-शान्ति अमरत्व के लिए अपेक्षित है। यह नियम है कि एक साधन की पूर्णता में दूसरे साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है। अतः शुद्ध संकल्प की पूर्ति निर्विकल्पस्थिति का, निर्विकल्पस्थिति की असङ्गता चिर-शान्ति का और चिर-शान्ति में रमण न करना ही परम प्रेम का साधन है।

परम प्रेम की प्राप्ति में समस्त साधनों का समावेश है। उसी का प्रतिबिम्ब वाह्य जीवन में उदारता, करुणा, सेवा, तप, त्याग, योग, ज्ञान आदि के स्वरूप में प्रतीत होता है; क्योंकि क्रियाशीलता अर्थात् कर्त्तव्यपरायणतापूर्वक रागरहित होने पर योगरूपी वृक्ष स्वतः उत्पन्न होता है। उस पर वह ज्ञानरूपी फल लगता है, जिसमें प्रेमरूपी रस भरा है और जो वास्तविक जीवन है।

प्रार्थना

(२)

(प्रार्थना मानव मात्र के विकास का अचूक उपाय है)

मेरे नाथ !
आप अपनी
सुधामयी
सर्व समर्थ
पतित पावनी
अहैतुकी कृपा से
मानवमात्र को
विवेक का आदर
तथा
बल का सदुपयोग
करने की सामर्थ्य
प्रदान करें !
एवं
हे करुणा सागर !
अपनी अपार
करुणा से
शीघ्र ही
राग-द्वेष का
नाश करें !
सभी का जीवन
सेवा, त्याग, प्रेम से
परिपूर्ण हो जाए !

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !! ॐ आनन्द !!!

मानव सेवा संघ के नियम

१—आत्म-निरीक्षण अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।

२—की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।

३—विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर; अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।

४—जितेन्द्रियता, सेवा, भगवच्चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।

५—दूसरों से कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल न मानना।

६—पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।

७—निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति क्रियात्मक रूप से सेवा करना।

८—शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।

९—शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।

१०—सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।

११—व्यर्थ-चिन्तन-त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

जीवन-कुंज माला २

४००० अक्टूबर १९९०

मूल्य : Rs. 5-00